सच्चिदानन्द वात्स्यायन

युगसन्धियों पर



सरस्वती विहार

मूल्य . पचीस रुपये (25 00)

प्रथम संस्करण : 1981

प्रकाशक | सरस्वती विहार
जी॰ टी॰ रोड, शाहदरा
दिल्ली-110032

YUGA SANDHIYON PAR (Essays)

by Sachchidanand Vatsyayan

बन्धुवर

भगवतीसरण सिंह को

सप्रीत

पुरोवाक्

ये सभी लेख लगभग एक-एक पखवाड़े के अन्तराल से साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपते रहे, यहाँ भी प्राय उसी क्रम में रखे गये हैं जिस क्रम में प्रकाशन हुआ था। केवल एक लेख स्थानान्तरित किया गया है क्यों कि विषय-वस्तु के सम्बन्ध के कारण उसे एक अन्य लेख के साथ रखना ठीक जान पड़ा।

इन लेखों को ठीक समकालीन टिप्पणियाँ तो नहीं कहा जा सकता, पर वे अपने समय के कुछ जीवन्त प्रश्नों पर एक लेखक के विचारों, चिन्ताओं और मन्तव्यों को अवश्य प्रकट करते हैं। इस ढंग की लेखमाला लिखना भी मैंने इसीलिए स्वीकार किया कि इस के सहारे मुझे दो काम होते दीखे। एक तो इन के द्वारा मैं कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपने विचार और नहीं तो खुद अपने सामने स्पष्ट कर के रख सकूँगा और उन में से जिन के पुनःपरीक्षण की ज़रूरत जान पड़ेगी उन पर आगे सोच सकूँगा। दूसरे उन विचारों को एक बड़े लोक-समाज के सामने रख सकूँगा जिस तक वे प्रायः पहुँचाये नहीं जाते। यह तो हो सकता है कि उस बृहत्तर समाज के सभी सदस्य गम्भीरता से सोचने वाले न भी हों, फिर भी एक समकालीन सत्ता के रूप में वह समाज महत्त्व रखता है और उसकी प्रतिक्रियाओं से लेखक कुछ सीख भी सकता है। आज के 'लोकप्रिय' साप्ताहिक प्राय ऐसे प्रश्न उस समाज के सामने नहीं रखते या सस्ते और सतही बना कर रखते हैं, इस आधार पर ऐसा भी सोचा जा सकता है कि ऐसे पत्र उपयुक्त माध्यम नहीं हैं। पर दूसरी ओर ऐसे प्रकाशन से ही मेरे इस विश्वास की परीक्षा हो सकती थी कि हिन्दी के पाठक-समाज की रुचि और समझ उतनी घटिया और छिछली नहीं है जितनी ऐसे पत्रों के मालिक मान कर चलते हैं, कि खरे ढंग से पेश की गयी खरी बात वह समझता और पसन्द करता है, उस के बारे में सोचता है और अपनी राय बनाता है।

ये लेख देश में दूर-दूर तक पढ़े गये और तरह-तरह की प्रतिक्रियाओं के

निमित्त भी बने, इन से पाठक-वर्ग म नेखव की श्रद्धा पुष्ट ही हुई। उसे यह सन्तोष भी मिला कि न केवल ये प्रश्न और भी बहुत मे लोगा को उद्वेलित करते हैं बल्कि उनके बारे म लेखक के विचार समाज के एक बडे वर्ग के द्वारा अनुमोदित भी हैं। इस वैचारिक सम्पुष्टि का लेख के लिए कितना महत्त्व होता है यह सोचा जा सकता है, मरे लिए उस का अतिरिक्त मूल्य है, यह भी इन के पाठक समझ सकेंगे।

इन्ही प्रतिक्रियाआ से मुझे विश्वास हुआ—और अब पाठको ने साग्रह यह सुझाया भी—कि पुस्तकाकार उपलब्ध हो कर ये लेख एक और भी बड समाज क सरोकारा को वाणी दे सकेंगे और अधिक समय तक विचारार्थ सामन रह सकेंगे। इसी आशा स इन का प्रकाशन इस रूप म किया जा रहा है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक और अपने एक-चौथाई शती के प्रिय सहयोगी मनोहर श्याम जोशी का मैं ऋणी हूँ कि उन के आग्रह और आतक ने मुझ म एक के बाद एक य लेख लिखवा लिये। मैं कुछ भी लिखने स पहल उस पर बहुत दिन सोचते रहना चाहता हूँ, दूसरी ओर उन का मन अधिक समय तक किसी एक चीज पर टिकता नही, पर इन लेखो क मामले म उन्हो ने पठान की सी मुस्तैदी दिखायी—इस से मैं यही समझा कि लेख उन्हे भी पसन्द आते रहे। इस का अचरज भरा सुख भी इस प्रकाशन के साथ और टिकाऊ हो जायेगा, इस के लिए मैं फिर उन का आभार मानता हूँ।

—लेखक

जनवरी १९८१

क्रम

युग-सन्धियों पर

शासन : एक जादुई कालीन

यह एक मुख्य-मन्त्री की कहानी है जो मुझे उसी राज्य के एक दूसरे और परवर्ती मुख्य-मन्त्री से सुनने को मिली थी।

मुख्य-मन्त्री नम्बर दो, जिन्होंने कहानी सुनायी, अच्छे और समर्थ प्रशासक माने जाते थे। स्वयं उन के विरुद्ध भ्रष्ट आचरण की चर्चा कभी नहीं सुनी गयी थी। जैसा आज के राजनैतिक जीवन की एक आम बात हो गयी है, उन की श्रीमती और उन के चिरंजीव द्वारा उन के पद और सत्ता के दुरुपयोग की बात तो होती रहती थी।

इस के विपरीत मुख्य-मन्त्री नम्बर एक, जिन के बारे में कहानी है, कुशल और कठोर प्रशासक माने जाते थे, लेकिन जितनी चर्चा उन की योग्यता की होती थी उतनी ही उन के भ्रष्टाचार की भी। विचित्र बात यह थी कि जो लोग उन के भ्रष्ट आचरण की चर्चा करते थे उन के स्वर में भी निन्दा की गूंज बहुत कम सुनाई देती थी; एक तरह का प्रशंसा-भाव ही उस में प्रधान रहता था, मानो किसी भ्रष्ट काम और प्रशासनिक चतुराई में कोई भेद न हो—या यों कहें कि यह मान लिया जाता हो कि अच्छा प्रशासक इस मामले में अधिक नैतिक बारीकियों में नहीं जा सकता कि प्रशासन के लिए जो काम आवश्यक है वह कानून और नीति-द्वारा संभव भी है या नहीं।

यह शायद एक साधारण मध्यकालीन अथवा सामंतवादी मान्यता है : राजकाज में क्या नैतिक है और क्या अनैतिक, इस का अधिक विचार नहीं हो सकता और राजा जो करता है उसे भ्रष्टाचार नहीं कहा जा सकता—भले ही कभी उसे जुलुम या अन्धेर कहा जा सके। रजवाड़ों में तो ऐसा माना ही जाता था कि राजा और डाकू में प्रवृत्ति-भेद नहीं होता, थोड़ा पद-भेद होता है और उसी कारण नैतिक आडम्बर में भी थोड़ा अन्तर रहता है। स्वयं मुझे एक बार एक भूतपूर्व डाकू से भी यही बात सुनने को मिली थी : यह पूछने पर कि डाकू लोग अपेक्षया कम समर्थ वर्ग को ही क्यों लूटते हैं,

राजाओ और बडे जमींदारो के घर क्यो डाका नही डालते, उस ने हस कर जवाब दिया था, "अरे साहब, अपने भाई-बन्दो को भी कोई लूटता है ?"

तो मुख्य-मन्त्री नम्बर दो से मेरी जो बातचीत हुई थी उस का सन्दर्भ यही था जनता मे व्याप्त करप्शन, करप्शन के बारे मे साधारण सामाजिक मनोभाव और सफलता या कुशलता को नीति-अनीति से परे मानने की देश-व्यापी प्रवृत्ति । मुख्य-मन्त्री नम्बर दो ने यह कहानी सुनायी तो उन का मनोभाव भी कुछ विनोदमिश्रित प्रशसा का ही था—क्या इस कुशलता के लिए थोडी-सी ईर्ष्या भी नही थी ?—और सकेत उन का यही था कि प्रशासनिक मामलो मे नैतिक और अनैतिक का विचार बहुत कठिन है । चलती का नाम गाडी । शायद एक आधुनिक बैताल भी किसी आधुनिक विक्रमादित्य के सामने यही कहानी सुना कर यह सवाल पूछ सकता कि कथा-नायक 'करप्ट' था कि नही था ।

*मुख्य-मन्त्री नम्बर एक—कथा-नायक मुख्य-मन्त्री—*अपने सरकारी बगले की बालकनी मे बैठे हुक्का पी रहे थे । उन्हे सूचना दी गयी कि कोई फरियादी उन के पास अर्जी ले कर आया है । हुक्के को एक तरफ ठेलते हुए उन्होने कहा, "भेज दो ।"

फरियादी देहात का, एक स्कूल का अध्यापक था । उस का निवेदन यह था कि वह जिस पद पर था उस से कही उच्चतर पद की योग्यता उस मे थी, लेकिन कई बार आवेदन करने पर भी शिक्षा-विभाग मे उस की सुनवाई नही हुई थी, यहा तक कि कई बार विज्ञापनो के जवाब मे आवेदन देने पर उसे इटरव्यू के लिए भी नही बुलाया गया । वह निदेशक महोदय से मिलने भी गया था, लेकिन तीन-चार बार कोशिश करने पर भी उसे मुलाकात के लिए समय तक नही दिया गया ।

मुख्य-मन्त्री चुपचाप सुनते रहे । शिक्षा-विभाग के निदेशक का जिक्र आने पर वह बहुत हलके-से मुस्कराये, लेकिन कुछ बोले नही । फरियादी जब अपनी बात पूरी कर चुका तब उन्होने पूछा, "लेकिन इस बारे मे मैं क्या कर सकता हूँ ?"

"हुजूर, आप मालिक हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं ।"

"फिर लोग शिकायत करते है कि दूसरो के महकमो मे दखल देता हूँ या अपने आदमियो को नौकरी दिलाता हूँ । मैं अभी तो दखल नही दे सकता । लेकिन तुम एक बार फिर कोशिश करो । नयी अर्जी लिख कर डायरेक्टर साहब के पास ले जाओ, वहाँ चाहे कह देना कि मैं ने दुबारा अर्जी देने के लिए कहा है ।"

फरियादी चला गया । मुख्य मन्त्री थोडी देर निदेशक के बारे मे सोचते

रहे। बात यह थी कि एक खासे बदनाम प्रशासन में भी यह निदेशक रिश्वत लेने के लिए खास तौर से बदनाम था। तबादले, तरक्कियाँ, इम्तहान के नतीजे, सभी कुछ रिश्वत के बल पर होते थे और ऐसी हर कार्यवाही की तह में डायरेक्टर साहब का ही हाथ रहता था। मुख्य-मन्त्री तक यह बात कई बार पहुँचायी जा चुकी थी। पहुँचायी न भी गयी होती तो भी एक कुशल प्रशासक के नाते वह अपने हर अधिकारी और कर्मचारी के बारे में पूरी जानकारी रखते थे। कौन कितने पानी में है, यह उन्हें बताने की जरूरत नहीं होती थी। शिक्षा-निदेशक शहर से बाहर शानदार इलाके में अपना बंगला भी बनवा रहा था, उस बंगले की उठान देख कर ही निदेशक महोदय के बारे में पक्की धारणा बन सकती थी क्योंकि वैसी इमारत की लागत और डायरेक्टर साहब की वैध आय में ताल मेल बिठाना असम्भव था।

खैर, दो महीने बीत गये। एक दिन फिर वही फरियादी उन के बंगले पर हाजिर हुआ। फिर वही वक्त था और मुख्य-मन्त्री जी बालकनी में बिछे कालीन पर आरामकुर्सी डाले हुक्के का इन्तजार कर रहे थे। फरियादी को देख कर उन्होंने पूछा, "क्यों भाई, कुछ हुआ ?"

फरियादी ने बड़े दुखी स्वर में उन्हें बताया कि नयी अर्जी का भी कोई असर नहीं हुआ—डायरेक्टर साहब से मुलाकात का मौका ही उसे नहीं दिया गया। वह और भी अपनी दुख-गाथा कह रहा था कि मुख्य मन्त्री ने उसे टोक कर कहा, "यह देखो, यह नीचे बिछा हुआ कालीन देखते हो ?"

फरियादी ने कुछ अचकचा कर कहा, "जी हुजूर।"

"इस को लपेटो।"

फरियादी ने और भी विमूढ़ स्वर से अपनी बात दोहरायी "जी हुजूर ?"

मुख्य-मन्त्री ने जरा दृढ़ता से कहा, "हाँ, मैं कह रहा हूँ—यह कालीन लपेटो।" और कहते हुए वह उठे और कालीन से हट कर एक तरफ खड़े हो गये।

फरियादी ने फिर भी बात न समझते हुए उन के चेहरे की ओर देखा। लेकिन मुख्य-मन्त्री की मुद्रा में थोड़ा-सा अधैर्य भी था कि आदेश का पालन क्यों नहीं हो रहा है। फ़रियादी ने चुपचाप कालीन लपेट कर एक तरफ कर दिया।

'इसे ले जाओ और दुबारा अर्जी दे कर इसे भी डायरेक्टर साहब के आगे तोहफे की तरह पेश कर देना। वह जरूर तुम्हारी अर्जी मान लेंगे।"

फरियादी को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। लेकिन मुख्य-मन्त्री ने जब थोड़ा डपट कर कहा, "मैं कहता हूँ ले जाओ—मेरा हुक्म है", तब उस ने डरते डरते कालीन उठाया और उतर कर चला गया।

एक महीना और निकल गया। इस बीच डायरेक्टर साहब का बंगला तैयार हो गया और उन्होने गृह-प्रवेश का एक दिन निश्चित कर के हाकिम-हुक्काम को दावत भी दे दी थी। मुख्य-मन्त्री के पास भी निमन्त्रण आ चुका था।

इसी बीच एक दिन एकाएक फरियादी फिर मुख्य-मन्त्री के सामने हाजिर हुआ। अब की बार उस की मुख-मुद्रा कुछ भिन्न थी, वह मुख्य मन्त्री का शुक्रिया अदा करने आया था। उसे देखते ही मुख्य-मन्त्री ने पूछा, 'क्यो भाई, काम बन गया।"

फरियादी की शहर के हाई स्कूल मे नियुक्ति हो गयी थी, जिसके लिए वह पहले कई बार आवेदन कर चुका था, लेकिन कभी मुलाकात के लिए भी नही बुलाया गया था।

"मैंने तो कहा था कि तेरा काम हो जायगा।"

फरियादी ने फिर मुख्य-मन्त्री को बहुत बहुत धन्यवाद दिया और चला गया।

सप्ताह-भर बाद मुख्य-मन्त्री गृह प्रवेश की दावत पर पहुँचे तो डायरेक्टर साहब बडी खातिर के साथ उन्हे भीतर के बडे कमरे म ले गये। जिस कुर्सी पर मुख्य मन्त्री को बिठाया गया उस के पैरो म वही कालीन बिछा था जो उन्होने स्कूल मास्टर के हाथ भिजवाया था।

मुख्य मन्त्री जी ने बगले की तो प्रशसा की ही, साथ ही कहा, "लेकिन इस कालीन के लिए मैं तुम्हारे टेस्ट की खास तौर से दाद देता हूँ। बहुत बढिया कालीन है। कहाँ से मँगाया ?'

डायरेक्टर ने बडी दीनता दिखाते हुए बताया कि कालीन तो बहुत महँगा है, उन के बूते का भी नही था, लेकिन इतना सुन्दर था कि वह खरीदे बिना नही रह सके।

चाय पी गयी। उस के बाद मुख्य-मन्त्री फिर उसी कालीन की ओर लौटे। उन्होने फिर कहा, "बहुत ही खूबसूरत कालीन है। मेरे खयाल म तो सारे बगले की सब से खूबसूरत चीज यही है। मुझे तो तुम पर रश्क होता है।"

अब कोई मुख्य मन्त्री किसी चीज की इतनी प्रशसा करे तो क्या किया जाय ? हमारे समाज मे तो उस म एक तरह के सकेत की ध्वनि होती है— कुछ प्रबलतर सामन्ती सस्कार वाले समाज म तो वह सकेत क्या, एक निर्देश ही होता है।

डायरेक्टर साहब ने निवेदन किया कि वह कालीन मुख्य मन्त्री साहब को इतना पसन्द आया है तो उसे वह उन की खिदमत मे नजर करना चाहेगा,

मुख्य-मन्त्री उसे कबूल कर कर लेंगे तो वह अपने को धन्य मानेगा।

मुख्य-मन्त्री ने कहा, "नहीं, नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था। मैं तो सिर्फ तुम्हारे टेस्ट की तारीफ कर रहा था।"

लेकिन दूसरे दिन जब डायरेक्टर साहब वह कालीन ले कर मुख्य-मन्त्री के बंगले पर पहुँच ही गये तब उन्होंने काफी अनिच्छा दिखाते हुए अंत मे वह भेंट स्वीकार कर ली।

कालीन वहीं पर बिछा दिया गया जहाँ से वह पहले हटाया गया था।

कहानी इतनी ही है। मुख्य-मन्त्री नम्बर दो ने कहानी सुना कर मुझ से पूछा, "अब आप बताइये कि इस मे कहाँ करप्शन हुआ और कहाँ गलती हुई? यह दूसरी बात है कि वह ऐसा करते या ऐसा न करते। लेकिन उसका जवाब तो सीधा है—जो आदमी योग्य होता है उस का काम करने का अपना ढंग होता है, अपना स्टाइल होता है. मैं तो कहूँगा कि अपना जीनियस होता है।" थोडा रुक कर उन्होंने कहा, "अब आप बताइये, उस स्कूल मास्टर को वह नौकरी मिल गयी जिस का वह हकदार था, डायरेक्टर साहब खुश हो गये कि उन्होंने मुख्य मन्त्री जी को खुश कर दिया, मुख्य-मन्त्री खुश हैं कि उन्होंने स्कूल मास्टर के साथ इन्साफ करा दिया। रही कालीन की बात—वह सरकारी माल जरूर था, लेकिन वह तो जहाँ का था वहीं का वहीं है।"

सोचते हुए मैंने मन-ही मन स्वीकार किया कि इस सारी कार्यवाही मे कहीं कुछ दोष हो सकता है तो यही कि सरकारी माल का एक अदद—यानी यह कालीन—थोडे दिन के लिए एक गैरसरकारी काम के लिए इस्तेमाल किया गया। लेकिन क्या सचमुच वह गैरसरकारी काम था, या कि मुख्य-मन्त्री नम्बर दो ठीक ही कहते हैं कि यह शासक की जीनियस की और उस की खास स्टाइल की बात है? अगर कार्रवाई की इस स्टाइल म कहीं सामन्ती युग की कोई छाया दीखती भी है—और विक्रमादित्य या हारू-उल-रशीद से ले कर महाराजा रजीतसिंह के जमाने तक लगातार शायद राजा उर्फ प्रशासक के काम करने का ढंग ऐसा रहा कि वह इन्साफ, कानून की परिधि से बाहर जाता रहा—तो इसे सामन्ती युग की छाया मान कर भी दोष कैसे कहा जाय जबकि पूरे समाज की मानसिकता पर अभी तक वैसी ही सामन्ती छाया बनी हुई है?

हम लोकतन्त्र की बात तो बहुत करते हैं। उस का बहुत-सा ताम-झाम भी हमने अपना लिया है, लेकिन लोकतन्त्र सब से पहले एक मानसिकता है। प्रशासनिक ढाँचा और कार्य-पद्धतियाँ उस मानसिकता में से निकलती हैं।

क्योंकि हमारा मन एक तरह का है, इसलिए क्योंकि हम एक खास ढंग से जीना चाहते हैं, इसलिए क्योंकि हमें एक समाज-परिपाटी चाहिए—इस तर्क-परंपरा से हम लोकतन्त्र के प्रशासनिक ढाँचे की संगति बैठाते हैं। अगर उसके पीछे ऐसी तर्क-परम्परा नहीं है, उस विशेष जीवन-परिपाटी का आग्रह नहीं है जिस के साथ वह ढांचा मेल खाता है, तो अपने आप में ढाँचे का न कोई मूल्य है, न कोई अर्थ, और न ही उस में इतना दम है कि वह बना रह सके। किसी भी समय वह भरभरा कर टूट सकता है क्योंकि उस की रक्षा के लिए और उसको स्थायित्व देने वाली कोई तर्क-परम्परा या मानसिकता उसके पीछे नहीं है।

क्या आज की राजनीति और समाज-व्यवस्था को समझने का एक सूत्र यह है—कि हम लोकतान्त्रिक ढाँचे को स्थापित करना चाह रहे हैं, लेकिन एक सामन्तवादी मानसिकता के बल पर ? और परिणामत. सामन्तवादी ढाँचे की बुराइयाँ छोडने को तैयार नहीं हैं ? इसलिए बिना किसी आधार के लोकतन्त्र के ढाँचे को खड़ा करने में क्या हम केवल उस की कमज़ोरियाँ ही अपने ऊपर नहीं ओढ ले रहे हैं ?

लोकतन्त्र अपने आप में कमज़ोर नहीं है। लोकतन्त्र की सार्थकता और दृढ़ता इस पर निर्भर करती है कि हम सामन्तवादी मानसिकता से मुक्त हो सकें।

अगर हम वह मानसिकता नहीं छोडते तो लोकतन्त्र के ढाँचे को अपनाने से हमारी राजनीति और हमारा राज एक ही दिशा में जा सकता है।

इस समय उसी दिशा में हम जा रहे हैं।

और यह कंकाल-नृत्य आकर्षक नहीं है, नहीं है।

खोयी हुई पीढ़ियाँ

पिछले विश्व-युद्ध के बाद योरोप के और एशिया के अनेक देशो मे किशोर वय के लोगो की कई प्रवृत्तियो से समाज के नेताओ को दुख और आश्चर्य होने लगा, तो उस के साथ साथ 'एक खोयी हुई पीढ़ी' की भी चर्चा होने लगी। खोयी हुई पीढ़ी की अवधारणा नयी नहीं थी, पहले विश्व-युद्ध के बाद भी जोरो से इस की चर्चा हुई थी। अवधारणा का मूल यह है कि विश्व-युद्ध जैसे नर-सहार म अनिवार्यतया ऐसा होता है कि बीच की उम्र के बहुत से लोग मारे जाते हैं। कम उम्र के लोग सेना मे भरती के योग्य नहीं होते, न अधिक उम्र के लोग ही मोर्चों पर भेजे जा सकते हैं, और इसलिए बीच की उम्र का एक बहुत बडा वर्ग मौत के मुँह मे झोक दिये जाने का जोखम उठाता है। यह नही कि ऐसे सब लोग खेत रह जाते हैं, लेकिन जो लौट कर आते हैं उन मे से भी एक काफी बडी सख्या ऐसे लोगो की होती है जो शरीर से लाचार हो गये हो, या जो मानसिक आघात के कारण सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हो गय हो। पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन पर इस स्थिति का जो प्रभाव पडता है वह भी कम महत्त्व का नही है।

इस प्रकार बीच की पीढ़ी के इतने अधिक लोगो के उठ जाने से समाज मे एक दरार पैदा हो जाती है, पीढ़ियो का सातत्य या कि सन्तानता टूट जाती है, सलाप की सम्भावना बहुत कम रह जाती है और पारिवारिक अनुशासन का सहज क्रम बना न रहने से समाज मे अनेक विकृतियाँ प्रकट होने लगती हैं। उद्दडता और उच्छृखलता बढ जाती है। किशोरो मे हिंसा और तोड-फोड की प्रवृत्ति प्रकट होती है और उन के ऐसे अनेक गिरोह बन जाते हैं जिन का काम ही कानून तोडना होता है—उन्हें इसी मे रस मिलने लगता है। दूसरी ओर प्रौढ़ लोग भी बहुत से उच्छृखल और अनैतिक कामो की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं। सभी स्तरो पर एक अनाचार या स्वैराचार प्रकट होता है जिस का कारण सातत्य का टूट जाना ही होता है—और स्वय इस टूटन

का कारण यह है कि बीच की एक पीढ़ी लुप्त हो गयी है।

कभी-कभी यह सवाल मन म उठता है कि क्या लुप्त हो गयी पीढ़ी की इस अवधारणा का कोई ऐसा सन्दर्भ भी है जो भारत के स्वाधीनता-सग्राम के साथ जुड़ा हो ? आजादी की लड़ाई की विश्व-युद्धो से तुलना नही की जा सकती और इस प्रधानत अहिंसात्मक लड़ाई मे उतने लोगों की जानें भी नहीं गयी कि उस अर्थ मे लुप्त पीढी की चर्चा सगत हो। लेकिन फिर भी क्या आजादी की लड़ाई के बाद की स्थिति और महायुद्धो के बाद की स्थिति मे ऐसी समानताएँ रही जिन के कारण सातत्य टूट गये होने की बात आजादी के सन्दर्भ मे उठायी जा सके और पिछले तीस वर्षों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बारे मे कुछ सारपूर्ण विचार सामने लाये जा सकें ?

इतना ही नही सामाजिक और राजनैतिक जीवन के मामले म जैसी उच्छृखलता और अनाचारिता आज देखने को मिलती है नौजवानो मे जैसी उद्दडता और इतिहास के प्रति उदासीनता लक्षित होती है और उस के जवाब मे बुजुर्गों की ओर से जैसी असहायता की बातें होती हैं, क्या इस के बारे मे भी कोई दिशा-सकेत उस से मिल सकते हैं ?

मुझे जान पडता है कि एक लुप्त पीढ़ी की अवधारणा यहाँ काम दे सकती है। उस के सहारे हम अपने समाज की कुछ विशेष प्रवृत्तियो को लक्ष्य कर सकते हैं जिन की ओर अन्यथा हमारा ध्यान न जाता, और बुजुर्ग तथा नौजवान पीढी के बीच जो खाई बन गयी है, एक स्वस्थ सलाप के द्वारा उस को पाटने का भी उपक्रम कर सकते हैं। और सब स बडी बात यह कि समाज की बुराइयो को राजनीति के सिर पर थोपने की पहली गलती और फिर समाज के रोगो के उपचार के लिए सरकार का मुँह जोहने की दूसरी गलती से बच सकते हैं। समाज सरकार का प्रतिबिम्ब नही है बल्कि सरकार ही समाज को प्रतिबिम्बित करती है और इसलिए समाज को समर्थ बनाना ही हमारा मौलिक कर्तव्य है। यह पहचान समाज और राजनीति दोनो के कायाकल्प म सहायक होगी।

लेकिन आजादी की लड़ाई के सन्दर्भ मे अगर एक पीढ़ी लुप्त हुई तो कैसे ? इसे कुछ दूसरे ढग से समझना होगा। बीच की पीढ़ी को हमारे बीच से मृत्यु ने नही हटाया, लेकिन जिन कारणो स वह निर्वीर्य हो गयी वे मृत्यु से कुछ कम घातक नही थे। लेकिन इस प्रक्रिया को समझने के लिए शायद ऐतिहासिक अनुक्रम मे न चल कर उलटे क्रम मे चलना अधिक उपयोगी होगा—परिणति से कारणो की ओर बढ़ना।

मेरे विद्यार्थी काल मे कालेजो की वाद विवाद प्रतियोगिताओ के लिए अक्सर एक विषय चुना जाता था "विद्यार्थियो को राजनीति मे भाग लेना

चाहिए या नहीं ?" आज यह प्रश्न कोई नहीं उठाता क्योंकि वह अर्थहीन हो गया है, लेकिन केवल इसलिए नहीं कि विद्यार्थी राजनीति में भाग लेने लगे हैं। आज हमारा सारा जीवन राजनीति से आक्रान्त है और वह भी सब से घटिया किस्म की राजनीति से। और हमारा शिक्षा-जगत् उस घटिया राजनीति के भी सब से घटिया स्तर का सब से अधिक बेचारा शिकार है।

देश के आज़ाद होते ही प्रशासन व्यवस्था में शिक्षा और संस्कृति को एक बहुत नीचे का दर्जा दिया गया। और जैसे-जैसे मन्त्रिमंडल बदलते गये हैं हम ने देखा है कि शिक्षा का दर्जा घटता ही गया है, उसे घटिया मंत्री मिलते हैं, आयोजित कार्यक्रमों में शिक्षा-विकास के कार्यक्रमों को हीनतर स्थान मिला है और उन के लिए आर्थिक व्यवस्था में कटौतियाँ प्राय की जाती रही हैं।

लेकिन इस की ज़िम्मेदारी क्या प्रशासन पर ही है ? या कि क्या केवल सरकार बनाने वाले राजनैतिक दल पर ही है ? क्या समूचे भारतीय समाज ने शिक्षा और संस्कृति के इस अवमूल्यन में योग नहीं दिया है ? क्या पूरा-का-पूरा समाज ही सत्ता की उपासना में नहीं लगा रहा ? 'विद्या ददाति विनयम्" ऐसा शास्त्रों ने कहा था, और विनय से क्योंकि सत्ता में नहीं आया जा सकता था इसलिए शिक्षा की कोई उपयोगिता सारे समाज को ही नहीं रही थी ! आज़ादी के साथ ही ऐसी स्थिति क्यों आ गयी, या अगर पहले से मौजूद थी तो आज़ादी के बाद एकाएक क्यों प्रकट हुई ? अपने संस्कारों और अपनी संस्कृति की शेखी बघारने वाला यह भारतीय समाज एकाएक संस्कार-हीन और मूल्य-बोधहीन क्यों हो गया ?

यह नहीं कि समाज में ऐसे लोग बचे ही नहीं जिन्हें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की चिन्ता है, जो अब भी चाहते हैं कि उन का जीवन नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों से अनुशासित हो। यह भी नहीं कि नौजवानों में ऐसे लोग नहीं हैं। बल्कि लक्ष्य करने की विशेषता यही है कि एक ओर प्रौढ़ व्यक्तियों में ऐसे हैं और दूसरी ओर बिलकुल नौजवान व्यक्तियों में, जिन के बारे में वह कहते हैं कि उन्होंने अभी जीवन देखा नहीं है और उस का दबाव पहचानते नहीं हैं। लेकिन उम्र के दोनों छोरों पर ऐसे व्यक्तियों के रहते भी हमारा समाज आज एक नैतिक समाज नहीं है क्योंकि बीच का बड़ा हिस्सा सम्पूर्णतया नीतिरहित हो गया है। यह बीच का हिस्सा सभी दृष्टियों से बीच का है और खासा बड़ा है—उम्र की दृष्टि से, सम्पन्नता की दृष्टि से, प्रभाव की दृष्टि से। यहीं पर आ कर स्थिति बीच की लुप्त-पीढ़ी की चर्चा से जुड़ जाती है। बीच की नैतिक पीढ़ी लुप्त हो गयी है—बीच में केवल अनीति है।

आज़ादी मिलते ही सुविधाओं और सत्ता के पदों की जो चूहा-दौड़ आरम्भ हुई थी उसका एक भाग यह है। जिन लोगों ने आज़ादी के संघर्ष में भाग लिया था उन में से बहुत सों में एक आदर्शोन्मुखता और नैतिक अनुशासन की भावना बनी रही। ऐसे लोग आज भी हैं लेकिन उन की संख्या प्राकृतिक कारणों से ही दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। चूहा दौड़ में जो लोग सफल हुए वे आज के शासक और नेता हैं। प्रौढ़ पीढ़ी की जो सन्तान आज़ादी के समय किशोर थी उस ने यह चूहा दौड़ ही देखी और उस ने इस आपाधापी का मूल्य-दर्शन ही अपनाया। और ये किशोर क्योंकि उन समाज में प्रतिष्ठित लोगों की औलाद थे इसलिए उन्हें बहुत-सी सुविधाएँ भी मिलीं, और इस प्रकार शासन में भी और सामाजिक नेतृत्व में भी उन्हीं लोगों की धाक बढ़ती गयी जो एकान्त रूप से नीति विहीन थे और जिन का एकमात्र लक्ष्य समाज में ऊपर आ कर वहाँ जमे रहना था। एक नीति-बोध रहित वर्ग सत्ता और नेतृत्व सँभाले हुए है और अपने से भी अधिक अविवेकी और सफलतावादी अपने बेटे-बेटियों को उत्तराधिकार के लिए तैयार कर रहा है।

वास्तव में नये सिरे से नैतिक-बोध उन नौजवानों में जाग रहा है जिन का जन्म इस आपाधापी की सीमा के बाद ही हुआ। उन्होंने आज़ादी के संघर्ष की निष्ठा उत्तराधिकार में नहीं पायी, लेकिन साथ ही उन्होंने उस युग की मानसिकता भी नहीं ग्रहण की जिस में हर लूट-खसोट करने वाला केवल अपनी सफलता के लिए नहीं बल्कि अपनी बुद्धिमानी के लिए भी अपनी पीठ ठोक रहा था।

इस प्रकार आज एक नौजवान पीढ़ी है जिसे एक नीतिवान् समाज की खोज है, और दूसरे छोर पर एक वयोवृद्ध पीढ़ी है जिसे एक नीतिवान् समाज की याद है—और बीच में एक नैतिक मरुस्थल है जिस में नेताओं और सरदारों की हवेलियाँ खड़ी हैं।

क्या इस मरुस्थल की ओर इशारा कर के छोड़ देना काफ़ी है? क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है जिससे कि फिर एक समग्र समाज हमें मिल सके और वह एक समग्र नैतिकता पर आधारित हो? क्या ऐसे कोई सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक उपाय हैं जिन से दोनों छोरों के बीच फिर समीपता का रिश्ता जुड़ सके—नीतिवान बुजुर्गों को युवा शक्ति का सहयोग और युवा शक्ति को नैतिक प्रेरणा मिल सके और एक संयुक्त नैतिक बल बीच की निर्लज्ज सफलतावादिता को हरा सके? ऐसा उपाय, जिस से वह बल तैयार हो सके जो वास्तव में 'थर्ड फ़ोर्स' नाम का पात्र हो—जो छात्र-सत्ता और धन सत्ता की दुरभिसन्धि का मुकाबला कर सके?

यह है तो। लेकिन वहां पहल भी युवा-पक्ष को करनी होगी और नेतृत्व का बोझ भी उसी को सँभालना होगा, और परिणामतः दाम भी, उसी को चुकाने होंगे क्योंकि उस पक्ष की संख्या भी वर्द्धमान है और बल भी जब कि दूसरी ओर वयोवृद्ध लोगों की संख्या भी दिन-ब-दिन कम होती जा रही है और बल भी। यदि युवा-पीढ़ी का संकल्प हो तो उपाय उस के पास है।

संस्कृति : यहाँ, वहाँ, या क़ब्र में ?

एक सवाल मुझ से इतनी बार पूछा जा चुका है और अब भी पूछा जाता है कि अब प्रश्न के आरंभ होते ही मैं प्रश्नकर्ता का पूरा आशय जान लेता हूँ और यन्त्रवत् उस का अभ्यास से सधा हुआ जवाब भी दे देता हूँ। पहले इस प्रश्न से मुझे चिढ़ होती थी, कभी गुस्सा भी आता था, लेकिन अब जानता हूँ कि वैसी प्रतिक्रिया ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रश्न हमारे देश-समाज की मानसिकता का एक लक्षण है, और उस पर खेद ही हो सकता है, रोष व्यर्थ है।

प्रश्न कई तरह की शब्दावली में कम या अधिक विस्तार के साथ पूछा जाता है। लेकिन उस का सार यह है कि हिन्दी-साहित्य (या भारतीय साहित्य) विश्व-साहित्य की तुलना में कहाँ ठहरता है? प्रश्नकर्ता यह मान कर चलता है कि भारतीय साहित्य का स्थान उस सन्दर्भ में बहुत ऊँचा तो नहीं हो सकता, और यह भी मानता है कि यह चिन्ता की या हीनता की बात नहीं। बाकी इस हीनत्व भाव को छिपाने के लिए यह चाहे यह जताये कि मुझ से यह प्रश्न इसलिए पूछा जा रहा है कि मैं विदेशी साहित्य (तथाकथित 'विश्व-साहित्य') भी पढ़ता हूँ, देश-देशान्तर घूमा हूँ, विदेशों में पढ़ा चुका हूँ—या इस रूप में प्रस्तुत किया जाय कि मैं हिन्दी में लिखता भले ही हूँ लेकिन हूँ तो मूलत विदेशी संस्कार का ही।

मैंने कहा कि प्रश्न का उत्तर बार-बार के अभ्यास के कारण सधा हुआ है, लेकिन उस का यह अर्थ नहीं है कि उसका एक ही रूप होता है। वह भी प्रश्न की भंगिमा और प्रश्नकर्ता के मनोभाव के अनुरूप तरह-तरह से प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन उसका भी सार यही है कि हमें विश्व-साहित्य के मोह में नहीं पड़ना चाहिए, साहित्य यानी अच्छा साहित्य मूलत और अनिवार्यत एक संस्कृति की उपज होता है और उस संस्कृति का स्वर उस साहित्य में सुनाई पड़ना चाहिए। जो साहित्य किसी एक संस्कृति का प्रतिबिम्बन करता

है उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी एक अस्मिता होती है; और जब वह व्यक्तित्व उसके क्षेत्र के बाहर पहचाना जाता है तभी दूसरे संस्कृति-समाजो मे उसे महत्व दिया जाता है और उसके ग्रहण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति होती है। दूसरे शब्दो मे तभी वह विश्व-साहित्य मे स्थान पाता है। जिस साहित्यिक रचना मे संस्कृति का स्वर नही बोलता उसका विश्व-साहित्य मे स्थान पाने का कोई सवाल ही नही उठता। यह बडा खतरनाक मोह है कि हम देश-संस्कृति से उबर कर या उसके प्रति उदासीन हो कर या उस से अपरिचित रह कर—बल्कि उसके विरुद्ध अपने को कवचबद्ध करके—विश्व-साहित्य मे प्रवेश का द्वार खोल लेते हैं। हम वैसा कुछ नही करते, हम केवल उस डाल को काट देते हैं जिस पर हम बैठे हैं।

मैं जानता हूँ कि अधिसंख्य प्रश्नकर्ता मेरे जवाब को स्वीकार नही करते लेकिन यह भी जानता हूँ कि उनम से कई-एक मेरे उत्तर से कुछ सोच मे पड जाते हैं या कभी-कभी बेचैन हो उठते हैं। मैं मानता हूँ कि यह बेचैनी इस बात का लक्षण है कि उनके भीतर का संशय उनके सामने आ गया है और इसलिए अपनी बात उनको मनवा न पाने पर भी मुझे सन्तोष होता है। डर अथवा दीनत्व भाव अस्वस्थ है, पर दबे रहना रोग को बढाता है और उसे खुले मे ले आना रोग के उपचार का पहला कदम है।

अपनी संस्कृति के प्रति इस उदासीनता, सन्देह, अवज्ञा बल्कि कभी-कभी घृणा भाव के कई पहलू हैं। अंग्रेजी भाषा का मोह और उसके प्रति घर वालो का प्रेम तो उसका केवल एक सतही लक्षण है। कई वर्ष पहले एक बातचीत मे, जिसमे सूचना और प्रसार विभाग के अधिकारी भी थे और विदेश मन्त्रालय के सांस्कृतिक सम्पर्क विभाग के कुछ अधिकारी भी, मेरे इस बात पर दुख प्रगट करने पर कि भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालय और दूतावासो के प्रसार अथवा सांस्कृतिक अधिकारी भारतीय संस्कृति का बाहर प्रसार करने के मामले मे क्यों बिलकुल उदासीन हैं, एक अधिकारी ने कुछ ठुनक कर कहा था, 'हमारे पास बाहर दिखाने को है क्या? एक बुद्ध और एक गान्धी, बस। और दोनो का ही हम बाहर काफी प्रचार कर ही रहे हैं।'

बात बुद्ध और गान्धी के स्तर की ही होती तब तो कोई ऐसी चिन्ता की बात नहीं थी। तब हम कहते कि ठीक है, आप ईसा और मुहम्मद और जरथुस्त्र और लाओ-त्जु का आयात कीजिए, हमे कोई चिन्ता नही है और हमारी संस्कृति को कोई खतरा नही है। पर स्थिति तो यह है कि बाहर दिखाने को बुद्ध और गान्धी के सिवा कुछ नही है, मगर बाहर से यहाँ लाने

को जाज, पॉप चित्रकला, ठोस कविता, मुक्केबाज मुहम्मद अली, फ्रांसीसी बहुरूपिये, रूसी नट आदि सब हैं और 'आर्ट फिल्म' के नाम पर जलील से-जलील दर्जे की अश्लीलता है !

जब अकादमियाँ बनी थी तब हम ने आशा की थी कि भारत से बाहर भारत की संस्कृति का सही और उज्ज्वल बिम्ब प्रस्तुत करने मे ये कुछ योग देंगी, लेकिन ये भी इम्पोर्ट की एजेंसियाँ बन कर रह गयी है। इधर तो यह हाल हो गया है कि कोई भी छोटा-मोटा विदेशी कवि या उपन्यासकार या कहानीकार सैलानी बनकर भी इस देश मे आया तो कही-न-कही से अकादमी को औपचारिक सूचना मिल जायेगी और तुरत उसके सम्मान मे एक गोष्ठी का आयोजन हो जायेगा। अकादमी के द्वारा संस्कृति के (अब वह जैसी भी है, इस सन्दर्भ मे उसे संस्कृति तो कहना ही होगा) इस पहले से बढे हुए आयात मे और भी तीव्रता लाने के काम मे और भी सरकारी एजेंसियाँ (नही, क्षमा कीजिए, ये सरकारी नही, सरकार द्वारा भरित और पोषित 'स्वायत्त संस्थाएं' हैं) भरपूर योग दे रही हैं। इडियन कौंसिल आफ कल्चरल रिलेशन्स भी ऐसी ही एक स्वायत्त संस्था है। इधर कई वर्षों के बाद और कई बार याद दिलाये जाने पर उसे इतना तो चेत हुआ है कि आयात केवल अग्रेजी-भाषी पश्चिमी देशो अथवा इगलैंड और अमेरिका तक सीमित नहीं रहना चाहिए, और ससार मे दूसरे भी देश हैं जिन के पास संस्कृतियाँ और साहित्य हैं। इस के लिए तो इस परिषद् की दाद देनी चाहिए कि अब वह रूसी, फ्रासीसी, जर्मन, इस्पानी आदि भाषाओ से भी अनुवाद को प्रोत्साहन देने के लिए भारतीय लेखको को बाहर भेजने का आयोजन कर रही है। लेकिन इस बात को छोड भी दें कि अब भी पश्चिमोन्मुखता क्यों, क्या पूर्वेशियाई देशो मे संस्कृतियाँ नही हैं, तो भी यह लक्ष्य किये बिना कैसे रहा जा सकता है कि यह आयोजन भी आयात करने का ही है। कल्चरल रिलेशन्स यानी सास्कृतिक सम्पर्क भी एकतरफा ही है। पश्चिम के देश तो हमारे सम्बन्धी हैं, लेकिन हम—हम उसी कोटि के हैं जिन्हें अग्रेजी म 'पुअर रिलेशन' कहा जाता है। हमारा तो केवल गाँव का रिश्ता है, असली रिश्तेदार तो वही हैं जिन्हें हमे बडी आव-भगत के साथ अपने घर लाना है !

सवाल पूछा जा सकता है और पूछा जाना चाहिए कि सास्कृतिक सन्दर्भ मे भी सरकारी संस्थाओ की ही बात क्यो की जाये ? ठीक है, देश मे और भी अनेक संस्थाओ के बारे मे यह प्रश्न उठाना चाहिए। ऐसा क्यो है कि देश मे कोई भी साहित्यिक या सास्कृतिक संस्था ऐसी या इतनी दमदार नहीं हुई कि भारतीय संस्कृति का एक जीवन्त और गौरवमय चित्र बाहर के लिए प्रस्तुत कर सके ? किसी भी कला के क्षेत्र मे ऐसी कोई संस्था नही है,

साहित्य की भी कोई संस्था नहीं है और व्यापकतर सन्दर्भ वाला कोई सांस्कृतिक संगठन भी नहीं है। क्यों ? जातियों और सम्प्रदायों और धर्मों की संस्थाएं हैं, और इस देश की संस्कृति मूलत: धार्मिक संस्कृति रही है ! लेकिन इन संस्थाओं को भी अपनी संस्कृति में आस्था नहीं है, उसके प्रति सम्मान अथवा गौरव का भाव नहीं है। वे भी 'धर्म-सम्मेलन' करती हैं तो उन्हीं को मान देने के लिए जो अपनी धर्म-निरपेक्षता की दुहाई ही नहीं देते अपने हर काम से यही प्रमाणित करते हैं कि उनके सरोकार केवल भौतिक सुख-सुविधा के हैं ! यहां तक कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी, जो कि स्वयं अपने दावे के अनुसार एक सांस्कृतिक संगठन है (और जहां तक संगठन का प्रश्न है, उसके समर्थ होने में कोई सन्देह नहीं है), इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया हो तो उसका लक्षण कहीं नहीं दीखता। जो लक्षण दीखते हैं वे इसी बात के कि उस ने धर्म-संस्कार की रक्षा के मामले में एक आक्रामक नहीं तो संघर्षशील प्रवृत्ति को तो उकसाया, लेकिन संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उस ने भी नहीं जगाया। संस्कृति के लिए हम लड़ें तो, मगर वह संस्कृति अभिमान के योग्य भी हो यह आवश्यक नहीं है ! ऐसी मानसिकता की कार्यक्षमता कितनी होगी यह सहज ही सोचा जा सकता है।

इस की चर्चा में एक बार ऐसा हुआ था कि सरकार की तथाकथित स्वायत्त योजनाओं के समर्थकों ने हमें याद दिलाया कि निर्यात के मामले में सरकार इतनी उदासीन नहीं है। उदाहरण के लिए, प्राचीन मूर्तिकला की एक प्रदर्शनी तो योरोप और अमेरिका भेजी गयी थी और वही सफल हुई थी। अब फिर फ्रांस ने पुरानी कलम के चित्रों की एक प्रदर्शनी आमन्त्रित की है। मेरे यह आपत्ति करने पर कि ऐसा विनिमय तो रोग को और बढ़ाता है, वह मेरी बात नहीं समझ सके थे। मैंने जब समझाया कि संसार के सम्य और सम्पन्न देश—यानी पश्चिमी देश (चलिये, अपवाद के रूप में जापान को भी जोड़ लीजिये) जब यह प्रयत्न करते हैं कि विनिमय में इस देश से तो केवल प्राचीन वस्तुएँ मँगाकर प्रदर्शित करें और बदले में अपनी केवल आधुनिक चीजें यहां भेजें, तो वे पहले से ही असन्तुलित विनिमय को और भी असंतुलित कर रहे हैं, कि यह एक प्रकार का मँजा हुआ सांस्कृतिक उपनिवेशवाद है कि आप बाहर प्राचीन भारत का भव्य चित्र प्रस्तुत करके यह प्रमाणित करते चलें कि भारतीय संस्कृति तो वही है जो प्राचीन काल में थी और अब बस दिखाने के लायक रह गयी है, और दूसरी ओर आधुनिक संस्कृति तो वही है जो पश्चिम से यहां भेजी जा रही है—आधुनिक संस्कृति तो इस देश में है ही कहां ! हां, बुद्ध और गान्धी अवश्य थे, लेकिन बुद्ध तो प्राचीन काल के ही थे, और गान्धी महान् तो थे, लेकिन जनता के आदमी थे।

जनता का सस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह दलील कोई विदेशी हमे दे इसकी तो कोई आवश्यकता नही है, आखिर हमारे सारे राजनैतिक नेता यही सब करने मे तो लगे हुए हैं !

मैं जानता हूँ कि मेरे दुखी होने से या बडबडाने से बहुत लाभ नही होने वाला है, लेकिन चुप रहने से और भी अधिक अहित होने वाला है। असल मे सारे देश ने बिना सोचे-समझे और एक झूठे तथा विकृत जनवाद के नाम पर यह स्वीकार कर लिया है कि सस्कृति तो एक बुर्जुआ चीज है, बुर्जुआ है इसलिए प्रगति विरोधी है, अर्थात् अगर समाज को बदलना है, अगर प्रगति मे गत्यात्मकता लानी है तो सस्कृति को मिटाना होगा। मैंने इसे झूठा और विकृत जनवाद कहा, वह इसलिए कि इसका वास्तव म जन से कोई सम्बन्ध नही है। झूठे साम्यवादी भी सस्कृति को उतना ही खतरनाक मानते हैं जितने सच्चे तानाशाह, जो सस्कृति के नाम पर अपनी पिस्तौल का घोडा उठाना चाहते हैं।

सस्कृति न तो केवल बुर्जुआ है, न प्रगति-विरोधी है, वह समाज को स्थायित्व देती है तो इसका यह अर्थ नही है कि वह उसे स्थितिशील बनाती है। सस्कृति एक कब्र नही है, वह तो जमीन है जिस पर पैर टेके बिना प्रगति हो ही नही सकती। बल्कि जो अगर नही है तो उस पर खडा होने वाला जन ही नही हैं, केवल एक छाया है।

मेरे पुकारने से अगर इतना ही दीख जाये कि सस्कृति पूरे समाज की चीज है, जीवनदायिनी है और गौरव की वस्तु है तो वर्तमान स्थिति म भी अवश्य कुछ हो सकता है। और यह तो है ही कि अगर हम इस बात को नही पहचानते तब तो किसी भी स्थिति मे कुछ नही हो सकता। रोगी का उपचार तो सम्भव है, लेकिन मुरदे को तो जलाया या दफनाया ही जा सकता है। कोई दूसरा उपचार उसका नही है !

इतिहास और अभिजात पूर्वग्रह

मैं इतिहासकार नहीं हूँ। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते भी मेरी विशेष रुचि साहित्य के इतिहास मे रही है, लेकिन इतिहास के, खास कर समकालीन इतिहास के, कुछ ऐसे पक्ष हैं जिन का हर भारतीय नागरिक के लिए महत्त्व है। समकालीन साहित्य के प्रति उपेक्षा केवल इतिहासकार के लिए समस्याएँ पैदा करती है ऐसा नहीं है। वह पूरे समाज की कमजोरी की ओर इशारा करती है और यह मानना होगा कि भारतीय समाज मे यह कमजोरी है। अखड काल अथवा महाकाल की चर्चा से खड-काल की यह उपेक्षा छिपायी नही जा सकती और इतिहास के दबाव मे जीने वाले आज के ससार मे इस उपेक्षा से भारत का स्थान कैसे कमजोर पड जाता है यह भी सोचने की बात है। समकालीन इतिहास की उदासीनता से समकालीन ससार की गति और दिशा का बोध भी धुँधला पड जाता है।

लेकिन जब मैं ने मान लिया कि मैं इतिहासकार नहीं हूँ तब ऐतिहासिक चेतना के उस बडे आयाम की चर्चा न कर के साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ म ही कुछ बातें कहना चाहता हूँ। यह भी साधारण नागरिक और साधारण पाठक को ध्यान म रखते हुए ही—यह मान कर कि साधारण पाठक साहित्य का भी साधारण पाठक है और उस की रुचि, उस की समझ साहित्य को भी प्रभावित करती है।

भारतीय समाज आज भी प्राय दो तिहाई अनपढ है। यह तो एक तथ्य है जिस से हम ऊब भी सकते हैं, लेकिन इसी तथ्य का एक दूसरा पहलू भी है। भारतीय समाज बीसियो शतियो से श्रुति-परम्परा मे पला है, साहित्य को और सास्कृतिक सवेदन को वह सुन कर ही ग्रहण करता आया है और इसलिए आज भी यह स्थिति है कि निरक्षरो मे बहुत से लोग ऐसे मिल जायेंगे जो सस्कारवान् भी हैं और साहित्य विवेक कर सकने वाले भी, जब कि दूसरी ओर साक्षरो म ऐसे लोग कम नही हैं जिन मे सस्कारिता का अभाव है।

साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ मे इस बात का बहुत महत्त्व है और जिस उदासीनता की बात मैं ने कही है वह यहाँ पर सब से अधिक चिन्त्य हो जाती है क्योंकि श्रुति-परम्परा की व्यापक उपेक्षा साहित्य के इतिहास के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत की उपेक्षा है। वाचिक साक्ष्य को उस का उपयुक्त महत्त्व दिये बिना समकालीन साहित्य का कोई सही इतिहास नही लिखा जा सकता। और खेद की बात यह है कि सभी इतिहासकार वाचिक साक्ष्य की उपेक्षा करते आये हैं।

यों तो एक तरह के साहित्यिक साक्ष्य का उपयोग इतिहासकार करते रहे हैं। विशेष रूप से अपने अनुमानो की पुष्टि के लिए उन्होंने साहित्य की ओर ध्यान दिया है और फिर उन अनुमानों अथवा प्रतिज्ञाओ को पुरातत्त्व की खोजो और प्राचीन अभिलेखो से पुष्ट किया है। इसी प्रकार पुराने अभिलेखो ताम्रपत्रो इत्यादि मे पाये जाने वाले नामो को सही काल मे स्थापित करने के लिए साहित्य का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, राजवशो के क्रम तथा काल-निर्धारण मे साहित्यिक और पौराणिक सामग्री का महत्त्वपूर्ण उपयोग हुआ है। इधर भाषा-शास्त्रीय साक्ष्य का भी उपयोग बढ़ता गया है।

लेकिन इस सब के बावजूद इतिहासकारो मे वाचिक साक्ष्य के प्रति एक अजीव सन्देह अथवा अविश्वास का भाव लक्षित होता रहा है। यह सन्देह-भाव इसलिए और भी अजीब जान पड़ता है कि ये इतिहासकार पूरक साक्ष्य के लिए साहित्यिक सामग्री पर विचार करने को तैयार हैं, और जानते हैं कि जिस साहित्यिक सामग्री को ये प्रमाण रूप मे स्वीकार कर रहे है वह स्वय मुख्यतया वाचिक परम्परा मे ही सुरक्षित रही। क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि बहुत सा साहित्य हस्तलिखित ग्रन्थो मे लिखा जाने से पहले कई शतियो तक वाचिक परम्परा मे चला आता रहा और स्मृति मे ही सुरक्षित रहा।

श्रुति-द्वारा सुरक्षित साक्ष्य मे वेदो का तो अद्वितीय स्थान है ही। वेदो को स्मृति मे अक्षुण्ण और अविकृत बनाये रखने के लिए जिस अध्ययन-परम्परा का आविष्कार भारत मे हुआ वह ससार के इतिहास मे अद्वितीय है। ससार के किसी देश मे इस का कोई और उदाहरण नही मिलेगा कि कोई पाठ बिना एक अक्षर के भी परिवर्तन के देश के विभिन्न भागो मे केवल श्रुति के आधार पर हजारो वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सका हो। लेकिन वेदो का उदाहरण मैं केवल श्रुति परम्परा के सामर्थ्य और उस की विश्वसनीयता के लिए दे रहा हूँ, जिस तरह के ऐतिहासिक साक्ष्य की बात मैं करना चाहता हूँ वेद-सहिताएँ उस से अलग हैं।

भारत की वाचिक परम्परा मे मेरी अपनी रुचि जागने के दो विशेष कारण रहे। एक तो यह था कि काव्य के विकास मे जो बातें लक्षित हुईं उन

को समझना और उन का ठीक महत्त्व आँकना इस बात के विचार के बिना सम्भव नही था कि वाचन और श्रवण की स्थिति से मुद्रण और पठन की स्थिति मे आने पर सम्प्रेषण की परिस्थिति मे कैसा आमूल परिवर्तन आ जाता है, कवि का समाज और उस समाज मे कवि का सम्बन्ध कैसे बदल जाता है। हम लोग आर्थिक और राजनैतिक कारणों पर बहुत बल देते रहे हैं; नि सन्देह उन प्रभावो का भी महत्त्व है, लेकिन जो अनिवार्य परिवर्तन सम्प्रेषण की स्थिति और सम्बन्ध बदल जाने से होते हैं—और जो हर देश मे उसी स्थिति मे उन्ही कारणो से हुए हैं—उन की हम उपेक्षा करते रहे हैं। फलत हम ने ऊपर से रोपे गये प्रभावो को उचित से अधिक महत्त्व दिया है और रचना-प्रक्रिया के भीतर से उत्पन्न प्रेरणाओं को कम। इस से साहित्य की और विशेष रूप से काव्य की प्रवृत्तियों की हमारी समझ विकृत हुई है।

दूसरा कारण यह था कि आधुनिक भारतीय भाषाओ के और विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य के अध्ययन मे मुझे जब-जब १७वी-१९वी शती की साहित्यिक सामग्री की ओर जाना पड़ा तब-तब वाचिक साक्ष्य के महत्त्व का बोध हुआ और उस के प्रति इतिहासकारों के अवज्ञा-भाव पर अचरज हुआ। १७वी शती मे भारत मे मुद्रण यन्त्र नहीं आया था, लेकिन दूसरी तरफ इस काल मे छोटे और बड़े अनेक पुस्तकालयों और निजी सग्रहो म अनेक हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित थे। १८वी शती के उत्तरार्ध मे देश मे छपाई के यत्र का आविर्भाव हुआ—और उस के साथ ही वह प्रक्रिया आरम्भ हो गयी जिस के द्वारा छपाई की संस्कृति, वाचिक संस्कृति को अपरिहार्य रूप से नष्ट करती चलती है। लेकिन विनाश की यह प्रक्रिया २०वी शती के मध्य तक पूरी नही हुई। (और शायद यह कहा जा सकता है कि इस देश मे अब भी यह विनाश-क्रिया पूरी नही हुई क्योंकि अधिसख्य जनता अभी निरक्षर है और निरक्षर होते हुए भी संस्कारहीन नही है—वाचिक संस्कृति म जीती है।)

१७वीं से १९वीं शती के अत तक विकास की जो गति रही उस से इतिहासकारों का ध्यान इस सम्भावना की ओर जाना चाहिए था कि बहुत सा ऐतिहासिक साक्ष्य वाचिक परम्परा मे ही सुरक्षित रहा हो सकता है, लेकिन इतिहासकारो ने इस स्रोत की घोर उपेक्षा की। यह बार-बार देखा गया है कि १९वीं शती के किसी तथाकथित समाचारपत्र मे प्रकाशित दो-चार पंक्तियो के समाचार को भी अत्यन्त महत्त्व दिया जा रहा है और उसे अकाट्य प्रमाण माना जा रहा है—केवल इसलिए कि वह छपा हुआ है, और दूसरी ओर समवर्ती किन्तु भिन्न साक्ष्य के बहुत बड़े भंडार की केवल इसलिए उपेक्षा की जा रही है कि उसे छपाई में नहीं उतारा गया और केवल वाचिक परम्परा मे सुरक्षित रखा गया। इस बात का महत्त्व भी अनदेखा किया गया कि ऐसा

साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ मे इस बात का बहुत महत्त्व है और जिस उदासीनता की बात मैं ने कही है वह यहाँ पर सब से अधिक चिन्त्य हो जाती है क्योंकि श्रुति-परम्परा की व्यापक उपेक्षा साहित्य के इतिहास के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत की उपेक्षा है। वाचिक साक्ष्य को उस का उपयुक्त महत्त्व दिये बिना समकालीन साहित्य का कोई सही इतिहास नही लिखा जा सकता। और खेद की बात यह है कि सभी इतिहासकार वाचिक साक्ष्य की उपेक्षा करते आये हैं।

यो तो एक तरह के साहित्यिक साक्ष्य का उपयोग इतिहासकार करते रहे हैं। विशेष रूप से अपने अनुमानो की पुष्टि के लिए उन्होने साहित्य की ओर ध्यान दिया है और फिर उन अनुमानो अथवा प्रतिज्ञाओ को पुरातत्त्व की खोजो और प्राचीन अभिलेखो से पुष्ट किया है। इसी प्रकार पुराने अभिलेखो, ताम्रपत्रो इत्यादि में पाये जाने वाले नामो को सही काल मे स्थापित करने के लिए साहित्य का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, राजवशो के क्रम तथा काल-निर्धारण मे साहित्यिक और पौराणिक सामग्री का महत्त्वपूर्ण उपयोग हुआ है। इधर भाषा-शास्त्रीय साक्ष्य का भी उपयोग बढता गया है।

लेकिन इस सब के बावजूद इतिहासकारो मे वाचिक साक्ष्य के प्रति एक अजीब सन्देह अथवा अविश्वास का भाव लक्षित होता रहा है। यह सन्देह-भाव इसलिए और भी अजीब जान पडता है कि ये इतिहासकार पूरक साक्ष्य के लिए साहित्यिक सामग्री पर विचार करने को तैयार हैं, और जानते हैं कि जिस साहित्यिक सामग्री को वे प्रमाण रूप मे स्वीकार कर रहे है वह स्वय मुख्यतया वाचिक परम्परा मे ही सुरक्षित रही। क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि बहुत-सा साहित्य हस्तलिखित ग्रन्थो मे लिखा जाने से पहले कई शतियो तक वाचिक परम्परा मे चला आता रहा और स्मृति में ही सुरक्षित रहा।

श्रुति-द्वारा सुरक्षित साक्ष्य मे वेदो का तो अद्वितीय स्थान है ही। वेदो को स्मृति मे अक्षुण्ण और अविकृत बनाये रखने के लिए जिस अध्ययन-परम्परा का आविष्कार भारत मे हुआ वह ससार के इतिहास मे अद्वितीय है। ससार के किसी देश म इस का कोई और उदाहरण नही मिलेगा कि कोई पाठ बिना एक अक्षर के भी परिवर्तन के देश के विभिन्न भागो मे केवल श्रुति के आधार पर हजारो वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सका हो। लेकिन वेदो का उदाहरण मैं केवल श्रुति-परम्परा के सामर्थ्य और उस की विश्वसनीयता के लिए दे रहा हूँ, जिस तरह के ऐतिहासिक साक्ष्य की बात मैं करना चाहता हूँ वेद-सहिताएँ उस मे अलग है।

भारत की वाचिक परम्परा मे मेरी अपनी रुचि जागने के दो विशेष कारण रहे। एक तो यह था कि काव्य के विकास मे जो बातें लक्षित हुईं उन

को समझना और उन का ठीक महत्त्व आँकना इस बात के विचार के बिना सम्भव नहीं था कि वाचन और श्रवण की स्थिति से मुद्रण और पठन की स्थिति में आने पर सम्प्रेषण की परिस्थिति में कैसा आमूल परिवर्तन आ जाता है, कवि का समाज और उस समाज से कवि का सम्बन्ध कैसे बदल जाता है। हम लोग आर्थिक और राजनैतिक कारणों पर बहुत बल देते रहे हैं; निःसन्देह उन प्रभावों का भी महत्त्व है, लेकिन जो अनिवार्य परिवर्तन सम्प्रेषण की स्थिति और सम्बन्ध बदल जाने से होते हैं—और जो हर देश में उसी स्थिति में उन्हीं कारणों से हुए हैं—उन की हम उपेक्षा करते रहे हैं। फलतः हम ने ऊपर से रोपे गये प्रभावों को उचित से अधिक महत्त्व दिया है और रचना-प्रक्रिया के भीतर से उत्पन्न प्रेरणाओं को कम। इस में साहित्य की और विशेष रूप से काव्य की प्रवृत्तियों की हमारी समझ विकृत हुई है।

दूसरा कारण यह था कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के और विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य के अध्ययन में मुझे जब-जब १७वीं-१९वीं शती की साहित्यिक सामग्री की ओर जाना पड़ा तब-तब वाचिक साक्ष्य के महत्त्व का बोध हुआ और उस के प्रति इतिहासकारों के अवज्ञा-भाव पर अचरज हुआ। १७वीं शती में भारत में मुद्रण यन्त्र नहीं आया था, लेकिन दूसरी तरफ इस काल में छोटे और बड़े अनेक पुस्तकालयों और निजी संग्रहों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित थे। १८वीं शती के उत्तरार्ध में देश में छपाई के यन्त्र का आविर्भाव हुआ—और उस के साथ ही वह प्रक्रिया आरम्भ हो गयी जिस के द्वारा छपाई की संस्कृति, वाचिक संस्कृति को अपरिहार्य रूप से नष्ट करती चलती है। लेकिन विनाश की यह प्रक्रिया २०वीं शती के मध्य तक पूरी नहीं हुई। (और शायद यह कहा जा सकता है कि इस देश में अब भी यह विनाश-क्रिया पूरी नहीं हुई क्योंकि अधिकांश जनता अभी निरक्षर है और निरक्षर होते हुए भी संस्कारहीन नहीं है—वाचिक संस्कृति में जीती है।)

१७वीं से १९वीं शती के अंत तक विकास की जो गति रही उस में इतिहासकारों का ध्यान इस सम्भावना की ओर जाना चाहिए था कि बहुत-सा ऐतिहासिक साक्ष्य वाचिक परम्परा में ही सुरक्षित रहा हो सकता है, लेकिन इतिहासकारों ने इस स्रोत की घोर उपेक्षा की। यह बार-बार देखा गया है कि १९वीं शती के किसी तथाकथित समाचारपत्र में प्रकाशित दो-चार पंक्तियों के समाचार को भी अत्यन्त महत्त्व दिया जा रहा है और उसे अकाट्य प्रमाण माना जा रहा है—केवल इसलिए कि वह छपा हुआ है; और दूसरी ओर समवर्ती किन्तु भिन्न साक्ष्य के बहुत बड़े भंडार की केवल इसलिए उपेक्षा की जा रही है कि उसे छपाई में नहीं उतारा गया और केवल वाचिक परम्परा में सुरक्षित रखा गया। इस बात का महत्त्व भी अनदेखा किया गया कि ऐसा

बहुत-सा साक्ष्य देश के विभिन्न भागो मे भी एक ही रूप मे सुरक्षित है। और यह सब इस के बावजूद कि इतिहासकार यह मानते हैं कि हमारे देश मे विभिन्न प्रदेशो मे और समाज के विभिन्न स्तरो पर कई समान्तर परम्पराए बडी निष्ठापूर्वक सुरक्षित रखी जाती रही हैं।

दो-एक उदाहरण लीजिए। पहला उदाहरण छपे हुये साक्ष्य से लें। मेरे पास एक पुस्तक है जो इस शती के पहले दशक मे छपी थी—लिथो से छपी थी। कई खडो मे तैयार की गयी यह पुस्तक एक पद्य-सकलन है। इस के सकलनकर्ता स्कूल के अध्यापक थे और अनन्तर शायद उपनिरीक्षक के पद तक पहुँचे थे। इस सकलन के पद्य तरह-तरह के गाने, गज़लें और गीत हैं। साहित्यिक दृष्टि से उन का महत्त्व अधिक नही है। लेकिन एक दूसरे कारण से उन का मूल्य बहुत *अधिक* हो जाता है। बहुत कम गाने ऐसे हैं जिन के *रचयिता का नाम दिया गया है। इस छपी हुई पुस्तक का अग हो कर भी ये गाने वास्तव मे वाचिक परम्परा के हैं। वाचिक परम्परा की और लोक*-साहित्य की असल कसौटी पर वे खरे उतरते हैं – वे अनाम भी है और लोक-प्रचलित भी। सकलनकर्ता ने पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर ही यह स्पष्ट कर दिया है कि उस ने उन्ही गानो का सकलन किया है जो उस ने सुने और जिन्हे सुन कर उस ने जाना कि वे समाज मे प्रिय और प्रचलित हैं। इस प्रकार यह सकलन लोकप्रिय वाचिक रचनाओ का सकलन है। इस से भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि सग्रहीत प्रत्येक गज़ल और गीत के साथ एक और उल्लेख भी है। रचयिता अथवा कवि का नाम तो उस के साथ नहीं दिया है, लेकिन किसी-न-किसी गाने वाले का नाम उस के साथ जोड दिया गया है 'बतर्ज़ अमुक धुन' अथवा 'अमुक गायक/गायिका अथवा तवायफ द्वारा गाये गये अमुक गाने की धुन।'

यह तो कहा जा चुका है कि *काव्य-साहित्य की दृष्टि से इन गानो का अधिक महत्त्व नही है। उन का असली महत्त्व उन के साहित्यिक गुण मे नहीं बल्कि एक उल्लिखित सम्बन्ध मे है।* यह उल्लेख क्या सूचित करता है? स्पष्ट है कि ये गाने सकलन के तुरत पहले के युग मे समाज मे प्रचलित और प्रिय थे। इतना ही नही, यह सग्रह हम यह भी बताता है कि उस समय के अथवा उस समाज मे प्रिय गायक-गायिकाएँ (और तवायफें) कौन थी। सकलन इससे अधिक भी कुछ बताता है। इन विशेष गायिकाओ द्वारा गाये गये ये विशेष गाने उस समाज म इतने लोकप्रिय थे कि उस समाज के विभिन्न स्तरों के कवि अपने गाने उन्ही की तर्ज पर रचते थे। केवल कोई भी लोक-प्रिय धुनें नही, एक विशेष गायिका द्वारा गायी गयी विशेष धुन का सहारा ले कर वे रचना करते थे।

अब अगर ऐसा मान लेना ठीक है कि इन गीतों का रचनाकाल इस सकलन के प्रकाशन से तुरत पहले का दशक (या दो दशक) रहा होगा—और ऐसा मानना सर्वथा तर्कसंगत है—तो हमें एक महत्त्व की जानकारी मिलती है कि बीसवीं शती मे प्रवेश करते समय हिन्दुस्तानी (हिन्दी-उर्दू) बोलने वाले समाज की किस प्रकार की रुचि थी और क्या साहित्य उन्हें उपलब्ध था और कैसी प्रेरणाएँ कवियो के सामने थीं।

अब १८९०-१९१० के साहित्य और साहित्यिक रुचि के इस सकेत के बाद साहित्य के इतिहासों की ओर मुड़ें। हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी साहित्य के जो इतिहास विश्वविद्यालयों म पढाये जाते हैं और सम्मान पाते हैं उन म क्या इस युग की चर्चा में कहीं भी इस कोटि के साहित्य का उल्लेख है?

उस युग के समाज मे किस तरह का साहित्य सब से अधिक प्रचलित और लोकप्रिय था इस की जानकारी को क्या ये इतिहासकार उचित महत्त्व देते हैं? क्या इस उपेक्षा का कारण यही नहीं है कि यद्यपि आज यह सामग्री मुद्रित रूप मे उपलब्ध है, फिर भी वास्तव मे तो वाचिक साहित्य ही है? क्या इस स यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि साहित्य के सभी इतिहासकार समकालीन साहित्य के इतिहास के बारे मे एक अभिजातवर्गीय दृष्टि रखते हैं—बल्कि इतिहासकार तथ्यों की जान-बूझ कर उपेक्षा करते हुए इतिहास का विकृत चित्र प्रस्तुत करते हैं? इस युग का इतिहास लिखने के लिए इतिहासकारो ने तत्कालीन समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के मामूली सन्दर्भ खोज निकालने म बडा परिश्रम किया है और उन का पूरा ऐतिहासिक परिदृश्य छापे म उपलब्ध सामग्री पर ही आधारित रहा है। दूसरे भी सन्दर्भ हैं जिनका अपना महत्व हो सकता है और जिन से इस छपी हुई सामग्री का मूल्य बिलकुल बदल सकता है, यह बात मानो उन्हें सूझी ही नहीं।

अब एक दूसरे प्रकार का साक्ष्य लीजिए। आज भी सारे राजस्थान, हरियाणा, पजाब, हिमाचल प्रदेश, पर्वतीय उत्तर प्रदेश, उत्तरी बिहार, पूर्वी और दक्षिणी मध्य प्रदेश आदि में वाचिक परम्परा की ऐसी रचनाएँ सुनी जा सकती हैं और प्राय सुनायी जाती हैं जो अभी तक छपी नहीं हैं, लेकिन जो कई पीढियो से लगातार बडे-बडे श्रोता-समूहों का मनोरजन करती हैं—और केवल मनोरजन ही करती आयी हैं ऐसा नहीं है, उन का ज्ञानवर्द्धन भी करती रही हैं और उन्हें साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सस्कार भी देती रही हैं—मोटे तौर पर कहें कि उन की सस्कृति का अविच्छिन्न अग हैं। इस लोक साहित्य म अनक ऐसी ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख आता है जिन के छपे हुए दस्तावेज हम भले ही न मिलते हो, लेकिन जिन का उस लोक-

समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा जिस में उन की गाथाएँ इस गेय रूप में सुरक्षित रहीं। क्या इतिहासकार का यह भी कर्तव्य नहीं है कि इस कोटि के साक्ष्य को ग्रहण और स्वीकार करे, उस में उल्लिखित घटनाओं के पहलुओं का नया मूल्यांकन करे, जिस समाज ने अपनी स्मृति में उन्हें बनाये रखा है उस समाज के लिए उन के महत्त्व का मूल्यांकन करे ?

एक और कोटि के साक्ष्य पर भी विचार कीजिए। आल्हा को इतिहास में स्थान मिला है, लेकिन क्या इतिहासकार इस तथ्य का पूरा अभिप्राय भी समझते हैं कि उस का जो लिखित (और अब मुद्रित) रूप हम मिलता है वह एक अंग्रेज सैनिक अफसर द्वारा सिपाहियों से सुन कर लिखवाये जाने से पहले चार-पाँच सौ वर्ष तक लोक समाज की स्मृति में ही सुरक्षित रहा था ? निःसन्देह इस काल में लगातार उस का रूप कुछ-न-कुछ बदलता गया और एक अंग्रेज अफसर के पुरुषार्थ से लिखवाया जा कर वह जिस रूप में सुरक्षित है उस की भाषा निश्चय ही वह भाषा नहीं जिस में जगनिक ने पहली बार यह वीर-गाथा सुनायी होगी। लेकिन बदलती हुई भाषा की ओट में भी जो चीज अविचल रूप से लोक-समाज की स्मृति में बनी रहती है और उस के पूरे संवेदन को एक संस्कार देती है उस की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

अंग्रेज सैनिक अफसर का नाम आया तो एक और बात का उल्लेख भी किया जाये। एक और अफसर ने एक बार अपने जवानों की सांस्कृतिक पूँजी का सर्वेक्षण किया था। सैनिकों को जो भी काव्य-रचनाएँ याद थीं, जिन से वे अपना और एक-दूसरे का मनोरंजन करते थे और अपने स्तर पर एक सहृदय समाज बनाते थे, उन रचनाओं का संग्रह इस अफसर ने किया था। इस दुर्लभ लेकिन अभी उपलब्ध संग्रह में यह प्रगट होता है कि इन अनपढ़ सैनिकों की सांस्कृतिक सम्पत्ति में तुलसी रामायण और आल्हा जैसी चीजें तो थीं ही, कवित, सवैया और अनेक प्रकार के मुक्तकों का बहुत बड़ा भंडार भी था। विलक्षण बात यह कि अनेक सैनिकों को केशवदास के अनेक छन्द याद थे—उसी केशवदास के जिसे पढ़े-लिखे लोग भी "कठिन काव्य का प्रेत" कह कर याद करते हैं ! क्या इस तरह के साक्ष्य पूरे साहित्य-समाज के बारे में हमारी धारणा बदल नहीं देते ? क्या उन में यह स्पष्ट चुनौती नहीं है कि केवल छपे हुए या ग्रन्थों में सुरक्षित सामग्री की ओर ध्यान दिये बिना साहित्य का कोई इतिहास पूरा नहीं हो सकता ?

इस में सन्देह नहीं रह जाता कि इस तरह के साक्ष्य और श्रुति-परम्परा में सुरक्षित सामग्री की ओर हमारे इतिहासकारों के उपेक्षा-भाव का एकमात्र कारण यह है कि यह साक्ष्य वाचिक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अपने को इतिहासकार कहने वाला पंडित केवल इस नाम के आधार पर

देश की दो तिहाई जनता और उस की पूरी साहित्यिक सम्पदा की उपेक्षा करने का अधिकार अपने ऊपर ओढ लेता है।

आरोप तो अतिरंजित लग सकता है, लेकिन अगर सचाई का बीज उस में है तो अतिरंजना का छिलका उतार कर भी उसे ग्रहण किया जा सकता है। मैं इतिहासकार नहीं हूँ, लेकिन चाहता हूँ कि जिस सच्चे साहित्येतिहास की सामग्री देश में उपेक्षित बिखरी पड़ी है वह साहित्येतिहास साहित्य के पाठकों को उपलब्ध हो। 'आम आदमी' की बात करते हुए ही हम लगातार जिस आम आदमी की उपेक्षा करते रहते हैं उसे हम उस का उचित और अधिकृत स्थान दें।

समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा जिस मे उन की गाथाएँ इस गेय रूप मे सुरक्षित रही। क्या इतिहासकार का यह भी कर्तव्य नही है कि इस कोटि के साक्ष्य को ग्रहण और स्वीकार करे, उस मे उल्लिखित घटनाओ के पहलुओ का नया मूल्यांकन करे, जिस समाज ने अपनी स्मृति म उन्हें बनाये रखा है उस समाज के लिए उन के महत्त्व का मूल्यांकन करे ?

एक और कोटि के साक्ष्य पर भी विचार कीजिए। आल्हा को इतिहास मे स्थान मिला है लकिन क्या इतिहासकार इस तथ्य का पूरा अभिप्राय भी समझते हैं कि उस का जो लिखित (और अब मुद्रित) रूप हमे मिलता है वह एक अग्रेज सैनिक अफसर द्वारा सिपाहियो से सुन कर लिखवाये जाने से पहले चार पाँच सौ वर्ष तक लोक समाज की स्मृति म ही सुरक्षित रहा था ? नि सन्देह इस काल में लगातार उस का रूप कुछ-न कुछ बदलता गया और एक अग्रेज अफसर के पुरुषार्थ से लिखवाया जा कर वह जिस रूप मे सुरक्षित है उस की भाषा निश्चय ही वह भाषा नही जिस म जगनिक ने पहली बार यह वीर-गाथा सुनायी होगी। लेकिन बदलती हुई भाषा की ओट मे भी जो चीज अविचल रूप से लोक समाज की स्मृति मे बनी रहती है और उस के पूरे सवेदन को एक सस्कार देती है उस की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

अग्रेज सैनिक अफसर का नाम आया तो एक और बात का उल्लेख भी किया जाये। एक और अफसर ने एक बार अपने जवानो की सास्कृतिक पूँजी का सर्वेक्षण किया था। सैनिको को जो भी काव्य रचनाएँ याद थी जिन से वे अपना और एक दूसरे का मनोरजन करते थे और अपने स्तर पर एक सहृदय समाज बनाते थे उन रचनाओ का सग्रह इस अफसर ने किया था। इस दुलभ लेकिन अभी उपलब्ध सग्रह से यह प्रगट होता है कि इन अनपढ सैनिको की सास्कृतिक सम्पत्ति मे तुलसी रामायण और आल्हा जैसी चीजें तो थी ही कवित्त सवैया और अनेक प्रकार के मुक्तको का बहुत बडा भडार भी था। विलक्षण बात यह कि अनेक सैनिको को केशवदास के अनेक छद याद थे—उसी केशवदास के जिसे पढ लिखे लोग भी "कठिन काव्य का प्रेत" कह कर याद करते हैं। क्या इस तरह के साक्ष्य पूरे साहित्य समाज के बारे मे हमारी धारणा बदल नही देते ? क्या उन मे यह स्पष्ट चुनौती नही है कि केवल छपे हुए या ग्रथो मे सुरक्षित सामग्री की ओर ध्यान दिये बिना साहित्य का कोई इतिहास पूरा नही हो सकता ?

इस मे सन्देह नही रह जाता कि इस तरह के साक्ष्य और श्रुति परम्परा म सुरक्षित सामग्री की ओर हमारे इतिहासकारो के उपेक्षा भाव का एकमात्र कारण यह है कि यह साक्ष्य वाचिक है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि अपने को इतिहासकार कहने वाला पडित केवल इस नाम के आधार पर

देश की दो-तिहाई जनता और उस की पूरी साहित्यिक सम्पदा की उपेक्षा करने का अधिकार अपने ऊपर ओढ लेता है !

आरोप तो अतिरंजित लग सकता है, लेकिन अगर सचाई का बीज उस में है तो अतिरंजना का छिलका उतार कर भी उसे ग्रहण किया जा सकता है। मैं इतिहासकार नहीं हूँ, लेकिन चाहता हूँ कि जिस सच्चे साहित्येतिहास की सामग्री देश में उपेक्षित बिखरी पड़ी है वह साहित्येतिहास साहित्य के पाठकों को उपलब्ध हो। 'आम आदमी' की बात करते हुए ही हम लगातार जिस आम आदमी की उपेक्षा करते रहते हैं उसे हम उस का उचित और अधिकृत स्थान दें।

धर्म-निरपेक्षता के दर्जे

अभी उस दिन देश के एक बडे माने जाने-वाले नेता ने हमे बताया कि 'भारत ससार का दूसरा सबसे बडा मुस्लिम राष्ट्र है'। भारत के बारे मे और भी कई बडे माने-जाने वाले नेता जब-तब ऐसी बातें कहते हैं—कभी किसी को खुश करने वाली तो कभी किसी को चौंकाने वाली। यो कहा जा सकता है कि जो बातें वे कहते हैं उनके मूल मे कोई न-कोई तथ्य होता है—और तथ्यो से झगडा कैसा ? लेकिन तथ्य अपने आप मे तो कोई अर्थ नही रखते और किस तथ्य का क्या अर्थ लगाया जा रहा है या लगाया जा सकता है यह उस सन्दर्भ पर निर्भर करता है जिससे वह तथ्य रखा जाता है, या उस नीयत पर निर्भर करता है जिस से वह तथ्य किसी सन्दर्भ मे रखा गया, किसी समाज के सामने रखा गया या किसी विशेष अवसर पर उछाला गया। किसी की नीयत पर हम शक क्यो करें—खास कर उस वातावरण मे जिसमे हर किसी को हर दूसरे की नीयत पर शक करना ही अपने सयानेपन का एकमात्र लक्षण जान पडने लगा है ! लेकिन कोई बडा माना जाने वाला आदमी जब कोई तथ्य हमारे सामने रखता है तो उसका अर्थ समझने का भी हमे कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भारत दूसरा सबसे बडा मुस्लिम राष्ट्र है, इस बात का आधार देशो की जनसख्या है। जनसख्या के आधार पर सबसे ज्यादा सख्या मे मुसलमान इडोनेसिया म बसते हैं। उसके बाद दूसरे नम्बर पर हिन्दुस्तान आता है—यहाँ की मुस्लिम जनसख्या इडोनेसिया के बाद सबसे अधिक है। यो, निरे तथ्य के आधार पर, बात सही हो जाती है। फिर भी उसकी ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है क्योंकि जनसख्या के आकडो के आधार पर ही यह बात भी उतनी ही सच है कि 'भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है।' सख्या मे ससार के किसी दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ हिन्दू अधिक बसते हैं।

लेकिन क्या किसी बडे माने-जाने वाले नेता को यह कहने की हिम्मत है

कि भारत संसार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है ? बल्कि यही सवाल यो भी पूछा जा सकता है कि अगर उनके सामने कोई यही तथ्य उपस्थित करे कि भारत संसार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है तो क्या वह बौखला नही उठेंगे और इसे संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, कठमुल्लापन आदि-आदि का प्रमाण नही मानने लगेंगे कि कोई ऐसा कह रहा है ?

सवाल इसीलिए नीयत का सवाल बन जाता है।

'भारत संसार का दूसरा सबसे बडा मुस्लिम-देश है', इस बात का कोई अर्थ नही होता जब तक कि हम उसे इस दूसरी बात के सन्दर्भ मे न रखें कि भारत संसार का सबसे बडा हिन्दू-देश है। दोनो ही बातें एक ही जाति के तर्क और तुलनीय तथ्यो पर आधारित हैं—जनसंख्या के तर्क पर। एक बात की सच्चाई उतनी ही, वैसी ही और उसी सन्दर्भ मे है जितनी, जैसी और जिस सन्दर्भ मे दूसरी बात की सच्चाई है।

फिर भी एक बात कही जाती है और कहने वाला अपने को उदार, प्रगतिशील और धर्म-निरपेक्ष मानता है; और दूसरी बात नही कही जाती या उसे कहने या सोचने वाले को तुरत संकीर्ण, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। ऐसा क्यो ?

यह सवाल बार-बार पूछने की जरूरत है। उसके साथ ही बार-बार यह सवाल भी उठाने की जरूरत है कि धर्म-निरपेक्ष हम किसे कहते हैं ? धर्म-निरपेक्ष होने का मतलब क्या है, खास कर इस देश मे जहाँ लम्बी परम्परा से सब-कुछ धर्म के अधीन माना गया है ? जहाँ तक कि धर्म-निरपेक्षता की तर्क-संगति भी धर्म से ही सिद्ध की जाती है !

क्या धर्म-निरपेक्षता के भी दरजे हैं ? काले धन से शासित समाज मे हम 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की आय या पूजी की बातो के आदी हो गये हैं—तो क्या धर्म-निरपेक्षता भी एक काला धन है और वहाँ भी 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की धर्म-निरपेक्षता चलती है ?

इस देश के सबसे बहुसंख्य धर्म—हिन्दू धर्म—के नाम के साथ बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। कुछ कठिनाइयाँ ऐतिहासिक हैं; कुछ का आधार भारतीय धर्म-दृष्टि है। 'हिन्दू' नाम जिस अर्थ मे वह आज रूढ हो गया है उस अर्थ मे उत्तर मध्य काल की ही देन है, हालाँकि उसकी आधारभूत जीवन-दृष्टि का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल मे ही स्थिर हो गया था और देश के जीवन को अनुप्राणित करता आया है। इस्लाम और ईसाइयत और यहूदियत से हिन्दू-धर्म इस बात मे भिन्न है कि उसकी इमारत किसी मत-विश्वास या एकान्तवादी मान्यता पर नही बनायी गयी है, बल्कि सृष्टि मात्र के साथ सम्बन्ध पर आधारित है। यही हिन्दू-धर्म की अद्वितीयता है—लेकिन यही उसकी ऐति-

धर्म-निरपेक्षता के दर्जे

अभी उस दिन देश के एक बडे माने जाने-वाले नेता ने हमे बताया कि 'भारत ससार का दूसरा सबसे बडा मुस्लिम-राष्ट्र है'। भारत के बारे मे और भी कई बडे माने-जाने वाले नेता जब-तब ऐसी बातें कहते हैं—कभी किसी को खुश करने वाली तो कभी किसी को चौंकाने वाली। यो कहा जा सकता है कि जो बातें वे कहते हैं उनके मूल मे कोई न-कोई तथ्य होता है—और तथ्यो से झगडा कैसा? लेकिन तथ्य अपने आप मे तो कोई अर्थ नही रखते और किस तथ्य का क्या अर्थ लगाया जा रहा है या लगाया जा सकता है यह उस सन्दर्भ पर निर्भर करता है जिससे वह तथ्य रखा जाता है, या उस नीयत पर निर्भर करता है जिस से वह तथ्य किसी सन्दर्भ मे रखा गया, किसी समाज के सामने रखा गया या किसी विशेष अवसर पर उछाला गया। किसी की नीयत पर हम शक क्यो करें—खास कर उस वातावरण मे जिसमे हर किसी को हर दूसरे की नीयत पर शक करना ही अपने सयानेपन का एकमात्र लक्षण जान पडने लगा है! लेकिन कोई बडा माना जाने वाला आदमी जब कोई तथ्य हमारे सामने रखता है तो उसका अर्थ समझने का भी हमे कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भारत दूसरा सबसे बडा मुस्लिम-राष्ट्र है, इस बात का आधार देशो की जनसख्या है। जनसख्या के आधार पर सबसे ज्यादा सख्या मे मुसलमान इडोनेसिया मे बसते हैं। उसके बाद दूसरे नम्बर पर हिन्दुस्तान आता है—यहाँ की मुस्लिम जनसख्या इडोनेसिया के बाद सबसे अधिक है। यो, निरे तथ्य के आधार पर, बात सही हो जाती है। फिर भी उसकी ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है क्योकि जनसख्या के आकडो के आधार पर ही यह बात भी उतनी ही सच है कि 'भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है।' सख्या मे ससार के किसी दूसरे देश की अपेक्षा यहाँ हिन्दू अधिक बसते हैं।

लेकिन क्या किसी बडे माने-जाने वाले नेता को यह कहने की हिम्मत है

कि भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है ? बल्कि यही सवाल यो भी पूछा जा सकता है कि अगर उनके सामने कोई यही तथ्य उपस्थित करे कि भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है तो क्या वह बौखला नही उठेंगे और इसे सकीर्णता, साम्प्रदायिकता, कठमुल्लापन आदि-आदि का प्रमाण नही मानने लगेंगे कि कोई ऐसा कह रहा है ?

सवाल इसीलिए नीयत का सवाल बन जाता है।

'भारत ससार का दूसरा सबसे बडा मुस्लिम-देश है', इस बात का कोई अर्थ नही होता जब तक कि हम उसे इस दूसरी बात के सन्दर्भ मे न रखें कि भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-देश है। दोनो ही बातें एक ही जाति के तर्क और तुलनीय तथ्यो पर आधारित हैं—जनसख्या के तर्क पर। एक बात की सच्चाई उतनी ही, वैसी ही और उसी सन्दर्भ मे है जितनी, जैसी और जिस सन्दर्भ मे दूसरी बात की सच्चाई है।

फिर भी एक बात कही जाती है और कहने वाला अपने को उदार, प्रगतिशील और धर्म-निरपेक्ष मानता है, और दूसरी बात नही कही जाती या उसे कहने या सोचने वाले को तुरत सकीर्ण, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। ऐसा क्यो ?

यह सवाल बार-बार पूछने की जरूरत है। उसके साथ ही बार-बार यह सवाल भी उठाने की जरूरत है कि धर्म-निरपेक्ष हम किसे कहते हैं ? धर्म-निरपेक्ष होने का मतलब क्या है, खास कर इस देश मे जहाँ लम्बी परम्परा से सब-कुछ धर्म के अधीन माना गया है ? जहाँ तक कि धर्म-निरपेक्षता की तर्क-सगति भी धर्म से ही सिद्ध की जाती है !

क्या धर्म-निरपेक्षता के भी दरजे हैं ? काले धन से शासित समाज मे हम 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की आय या पूजी की बातो के आदी हो गये हैं—तो क्या धर्म निरपेक्षता भी एक काला धन है और वहाँ भी 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की धर्म-निरपेक्षता चलती है ?

इस देश के सबसे बहुसख्य धर्म—हिन्दू धर्म—के नाम के साथ बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। कुछ कठिनाइयाँ ऐतिहासिक हैं, कुछ का आधार भारतीय धर्म-दृष्टि है। 'हिन्दू' नाम जिस अर्थ मे वह आज रूढ हो गया है उस अर्थ में उत्तर मध्य काल की ही देन है, हालाँकि उसकी आधारभूत जीवन-दृष्टि का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल मे ही स्थिर हो गया था और देश के जीवन को अनुप्राणित करता आया है। इस्लाम और ईसाइयत और यहूदियत से हिन्दू-धर्म इस बात मे भिन्न है कि उसकी इमारत किसी मत विश्वास या एकान्त-वादी मान्यता पर नही बनायी गयी है, बल्कि सृष्टि मात्र के साथ सम्बन्ध पर आधारित है। यही हिन्दू-धर्म की अद्वितीयता है—लेकिन यही उसकी ऐति-

हासिक और आज कहें कि राजनैतिक कठिनाइयो का आधार भी है। दूसरे धर्म-मत सबसे पहले अपने आस-पास एक बाडा बनाते हैं : जो उसके भीतर हैं वे 'अपने' हैं और बाकी सब 'ग़ैर' हैं और कभी-कभी शत्रु भी माने जाते हैं। लेकिन हिन्दू जीवन-दृष्टि ऐसे बाडे नही बनाती और किसी को ग़ैर नही मानती। उसके लिए धर्म वह है जो सारे ससार को चलाता है—अलग-अलग समाजों के अलग-अलग धर्म-विश्वासो के बावजूद। हा, यह बात फिर से कहूँ कि हिन्दू-जीवन दृष्टि बाडे नही बनाती—मत-विश्वासो के आधार पर बाडे नही बनाती—इसके बावजूद कि उसके अपने समाज के भीतर अनेक विभाजन हैं जिनमे से कुछ अत्यन्त क्रूर ढग के भी हैं।

नि सन्देह ये भीतरी विभाजन क्रूर, अमानुषी और आत्मघाती हैं और इन्हें जल्दी-से-जल्दी मिटाना चाहिए। लेकिन आज के हिन्दू-समाज मे उनका चलन होने पर भी ये ही हिन्दू समाज नही हैं और न हमारी धार्मिकता इन पर निर्भर करती है, न हमारी धर्म-निरपेक्षता। हम हिन्दू समाज के कट्टर-से-कट्टर वर्ग का अग होते हुए भी, उसके घटिया-से-घटिया, नृशस-से नृशस लोक-व्यवहारो को मानते हुए भी आज के प्रचलित अर्थ मे धर्म-निरपेक्ष हो सकते हैं, दूसरी ओर उन सब आचार-नियमो को अमानुषिक मान कर उन्हे तोडते हुए भी धर्मवान् हो सकते हैं। बल्कि हम देख भी सकते हैं कि आज के भारतीय समाज मे ये सारे अमानुषी रीति-रिवाज उस वर्ग मे भी उतने ही प्रचलित हैं जो राजनैतिक दलगत आधार पर अपनी धर्म-निरपेक्षता की दुहाई देता है।

कहने चलने पर यह लगता है कि ये सब बातें नयी नही हैं। सचमुच नयी नही हैं। लेकिन सामाजिक राजनैतिक परिवेशो मे अक्सर ऐसा भी होता है कि कुछ बातें सिर्फ इसलिए नयी हो जाती हैं कि किसी ने उन्हे कह दिया है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी ही बातो मे—जो आज कह देने-भर से नयी हो जाती है—एक बात यह भी है कि भारत ससार का सबसे बडा हिन्दू-राष्ट्र है।

इस बात को मैं साम्प्रदायिक नही मानता। बल्कि मैं तो कहना चाहता हूँ कि इस देश और राष्ट्र मे धर्म-निरपेक्षता की अर्थवत्ता ही इस पर निर्भर करती है कि यह देश इस तथ्य से निकलने वाली अपनी जिम्मेदारी को पहचाने और स्वीकार करे। और वह जिम्मेदारी सिर्फ आज की राजनैतिक अवसर-वादिता पर आधारित नही है बल्कि एक अद्वितीय ऐतिहासिक परम्परा का प्रतिफलन है। इस बात को पहचान कर देश अपनी धर्म-निरपेक्षता को फिर उसके सही स्थान पर प्रतिष्ठित करे, 'दो नम्बर' की धर्म निरपेक्षता से सन्तुष्ट न रह कर उस 'एक नम्बर' की धर्म-निरपेक्षता पर कायम हो जो स्वय भार-

तीय धर्म-दृष्टि के ही प्रमाण पर टिकी है।

भारतीय समाज ससार का सबसे बडा हिन्दू-समाज है। नि सन्देह इस समाज ने ऐसे भी युग देखे जब उसके धर्म-विश्वासो को राजनैतिक सत्ता का सहारा भी मिला, जब लौकिक और पारलौकिक—या ऐहिक और पारमार्थिक—प्रभुसत्ताओं का योग हुआ। महत्त्व की बात है कि उस परिस्थिति मे यह समाज असहिष्णु नही हुआ और दूसरे सम्प्रदायो के विरुद्ध अत्याचार अथवा दमन को उसने अत्याचार और अधर्म समझा। यह केवल अकारण नही है बल्कि भारतीय इतिहास का गौरवमय अध्याय है। ईसा की पहली शती मे ही इस देश ने 'धार्मिक' कहे जाने वाले अत्याचार से त्रस्त ईसाइयों और यहूदियो को प्रश्रय दिया। यह धार्मिकता ही इस देश की धर्म-निरपेक्षता रही। मैंने कहा कि यह हमारे इतिहास का एक गौरवमय अध्याय है। लेकिन अतीत गौरव की बात से सन्तुष्ट हो जाना या अपनी पीठ ठोक लेना काफी नहीं है। अगर आज भी यह देश अपने को ससार का सबसे बडा हिन्दू-देश जानते और मानते हुए उसी धर्म पर आधारित धर्म निरपेक्षता को प्रतिष्ठित कर सकता है, तभी वह ऐसा देश बन सकता है जो केवल जनसख्या के आधार पर नहीं, जीवन-दृष्टि के आधार पर बडा देश है।

इस बात का पूरा आशय समझने के लिए एक बार आस-पास देखना भी आवश्यक है और ससार की अधुनातन प्रवृत्तियो को व्यापक ऐतिहासिक परि-दृश्य मे देखना समझना भी आवश्यक है। मैंने कहा कि यह देश प्रबल राज-नैतिक सामर्थ्य के युग मे भी उदार और सहिष्णु बना रह सका और सस्कृति को धर्म निरपेक्ष इसीलिए बनाये रख सका क्योकि वह सस्कृति धार्मिक सस्कृति थी—धर्म का अर्थ इतना व्यापक था कि सस्कृति को मुखर होने की कोई आवश्यकता नही थी। दूसरी ओर इतिहास बताता है कि इस्लाम ने बारूद के आविष्कार का भरपूर उपयोग करने म कोई सकोच नहीं किया—भले ही बारूद बनाने का नुस्खा उसे पहले-पहले एक ग़ैर इस्लामी (चीनी) संस्कृति मे मिला था। न ही उसने पूजी के विकास का उपयोग करने मे ... करने मे कोई सकोच किया। और समकालीन इतिहास के प्रति ... किये बिना हम यह भी कह सकते है कि आज इस्लाम बहुत कुछ ... देश से मिलने वाली राजनैतिक शक्ति का उपयोग उसी ढग से कर रहा है—तेल पर आधारित पूजी (पेट्रोडॉलर) का उपयोग भी न केवल राजनैतिक अस्त्र के रूप मे कर रहा है, बल्कि साम्प्रदायिक समाज के निर्माण के लिए भी कर रहा है। कदाचित् मत विश्वास पर आधारित कोई भी सम्प्रदाय ऐसा बच नहीं सकता। राजनैतिक अथवा अर्ध राजनैतिक सत्ता मिलते ही प्रभावकारी आक्रामक भगिमा अपना लेना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। ज़ायोनी

अमेरिका मे ईसाइयत का ऐसा रवैया देखा जा सकता है, मध्य, दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एसिया तथा अफ्रीका मे इस्लाम का रवैया भी ऐसा ही रहा है। यह इसके बावजूद कि दोनो सम्प्रदायो मे ऐसे अनेक उदार, मानवतावादी और प्रबुद्धचेता व्यक्ति रहे और हैं जो इन प्रवृत्तियो से दु खी हैं और अपने-अपने देशो तथा समाजो को उसके प्रति आगाह करते रहे हैं।

हमारी धर्म निरपेक्षता का सन्दर्भ यही हो सकता है हम आक्रामक नही हुए तो हमे सुरक्षा की भगिमा भी नही अपनानी चाहिए। दोनो एक-सी सकीर्ण प्रवृत्तियाँ हैं। अपनी जीवन-दृष्टि की सही पहचान, अपनी ऐतिहासिक *नियति की सही पहचान है और यह अतीत-जीवी या अतीतोन्मुखी नही है* वह समकालीन है और आज के लिए प्रासगिक है। यह सच्ची धर्म निरपेक्षता सबसे पहले और तुरत अपने समाज के भीतर समत्व स्थापित करेगी और लोकाचार को जकडे हुए कलको को मिटायेगी, और फिर वह सर्वमत सम-भाव के आधार पर धार्मिक होगी—उस अर्थ मे जिसमे यह देश एक धर्मवान देश रहा है—ससार का सबसे बडा धर्मवान् देश।

देशीयता और मौलिकता

साहित्य भाषा मे लिखा जाता है, और भाषा एक निरन्तर बदलती हुई गतिमान् चीज है। भाषा के परिवर्तनो का साहित्य के अध्ययन के लिए बहुत महत्त्व है, लेकिन भाषाविद् का सन्दर्भ एक है, साहित्य के प्रणेता और अध्येता का दूसरा।

साहित्य किसी-न-किसी विधा मे लिखा जाता है, और विधाएँ भी विकासमान हैं, इसलिए साहित्य को पढने और समझने के लिए विधाओ मे आने वाले परिवर्तनो और नयी विधाओं के आविष्कार को समझना निहायत जरूरी है।

ये दोनो बातें साहित्य के अध्येता, अध्यापक और आलोचक मानते हैं। समकालीन साहित्य-चर्चा मे मुख्यतया इन्ही दोनो का विवेचन होता है भाषा की विशेषताएँ और भाषागत परिवर्तन, तथा विधागत विशेषताएँ और परिवर्तन। लेकिन साहित्य भाषा अथवा विधा ही नहीं है। सब से पहले वह एक सम्प्रेषण है। सम्प्रेषण है तो उस की प्रक्रिया का एक माध्यम भी है—वह माध्यम जिस मे सम्प्रेषण की वह प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

यह बात इतने महत्त्व की है कि दुहरायी जा सकती है। भाषा माध्यम है, विधा भी माध्यम है, पर ये दोनो इस अर्थ मे माध्यम हैं कि उन के द्वारा सम्प्रेषण सम्पन्न होता है। उन के द्वारा वह सम्प्रेषण सम्पन्न होता है समाज में, और यह समाज एक दूसरे अर्थ मे सम्प्रेषण का माध्यम है, भाषा और विधा उस के निमित्त हैं।

इस माध्यम की, और उस पाठक समाज की ओर, जिस मे सम्प्रेषण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, मानो किसी का ध्यान नही है। इस के बावजूद कि समाज, सामाजिक परिवेश, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक प्रतिबद्धता आदि की इतनी चर्चा होती है, सम्प्रेषण के माध्यम के रूप मे समाज इतना उपेक्षित है, मानो उस का अस्तित्व ही न हो, जब कि सचाई यह है कि

समाज को इस रूप मे देखे-समझे बिना वास्तव मे साहित्य को भी नही समझा जा सकता। स्वय भाषा का और विधाओं का विकास भी बहुत दूर तक इस पर निर्भर करता है कि सम्प्रेषण के माध्यम के रूप मे समाज कहाँ और कैसे बदल रहा है। समाज केवल आर्थिक सम्बन्धो के जाल का नाम नही है, न केवल राजनैतिक सरचना है, समाज मे सवेदनो का जाल और विभिन्न परिस्थितियो में विभिन्न सवेदनो की अतिरिक्त अथवा सकुचित सजगता भी अपना महत्त्व रखती है, और इसे समझने के लिए हमे फिर मन सस्कारो की ओर ध्यान देना पडता है, जो केवल ऐतिहासिक घटना अथवा तथ्य के आधार पर नही समझे जा सकते, भले ही उसे भी ध्यान मे रखना आवश्यक हो। इस बात को मानो हिन्दी-साहित्य का अध्यापक और आलोचक भूल ही गया है। इतना भूल गया है कि इन सम्बन्धो के प्राथमिक और मोटे उदाहरण भी उस के ध्यान से उतर गये है।

उदाहरण के लिए भाषा की ही बात लें भाषा बदलती है तो भाषा के परिवर्तन भाषा मे से ही निकलते है, भाषा एक सामाजिक और युगीन समय है, जिस से आगे तो बढा जा सकता है, पर सीढी-दर-सीढी और समाज को अपने साथ लेते हुए ही। भाषा को आमूल उखाड कर उस की जगह नयी भाषा हम नही दे सकते नये शब्द, नये मुहावरे, नये प्रयोग हम कर सकते हैं तो एक जाने हुए, उभयपक्ष द्वारा स्वीकृत ढांचे के भीतर ही। इसी प्रकार और इसी अर्थ म कविता भी कविता मे से निकलती है. नयी रचना अपने पूर्ववर्ती साहित्य को नकारती है तो उस नकार की भी लीकें वह पूर्ववर्ती साहित्य ही निर्धारित करता है, क्योकि इस के बिना सवाद और सम्प्रेषण की स्थिति ही नही रहेगी। समाज-रूपी माध्यम से सवाद के सूत्र टूट चुके होगे और उस के लिए यह पहचानना भी कठिन हो जायेगा कि यह जो 'नया' है, यह उसी के साहित्य का नया है। पाठक निरन्तर नया कुछ चाहता है, आवृत्ति नही चाहता, नये को सहानुभूति भी दे सकता है और देता है। पर जो नया वह चाहता है, वह 'नया' ऐसा ही होगा, जिसे वह अपने पुराने ज्ञान और सस्कार के आधार पर पहचान और अपना सके—जिस के सामने वह केवल भौंचक्का-सा न रह जाये!

हम ने कहा कि यह प्राथमिक स्तर है, मोटी बात है; पर इसे भी आलोचक भूल गया है। यह भूल साहित्यकार के लिए कितनी घातक हो सकती है, इस की ओर उस का ध्यान भला कहाँ जायेगा! साहित्यकार के लिए रचना सम्प्रेषण से अलग नही, नही हो सकती, इसलिए उस के लिए तो इस सम्प्रेषण माध्यम की स्थिति के बारे मे लगातार सजग रहना, उस माध्यम की अपनी पहचान के अनुरूप अपनी भाषा को ढालना, विधाओ के अपने उपयोग-प्रयोग

को परिवर्तित करना, सहज और स्वाभाविक (और अनिवार्य) कर्म है—इस बात को भी मानो आलोचक भूल गया है। 'रचना', 'परिस्थिति' मे से उपजती है, और परिस्थिति सब से पहले उस सम्प्रेषण-माध्यम की स्थिति है, जिस मे रचना हुई है और जिस के बीच तथा जिस के द्वारा वह दूसरे तक पहुँचेगी, दूसरे तक पहुँचायी जायेगी। (और यह 'दूसरे' तक पहुँचना ही तो 'साहित्य' है।) पर यह बात भी आज हमारे समालोचक-समाज मे उपेक्षित है। कोई नयी रचना हमारे सामने आती है तो हम विधा के रूप मे उस पर विचार करते हुए इस खोज मे दत्तचित्त होते हैं कि विदेशो मे—(विशेष रूप से अंग्रेजी मे, क्योंकि वही तो है एक खिडकी हमारे घर मे!)—उस विधा के स्रोत कहाँ हैं, वहाँ उन मे कौन-से परिवर्तन हुए हैं, कौन-सी नयी बात आयी है और उस का प्रभाव कहाँ तक हमारे रचना-कार्य पर पडा है। हमारे पास नया क्या आया, यह जानने के लिए हम यह खोजते हैं कि इस का कोई मॉडल विदेश मे है या नही जिस पर हम उस परख सकें। यानी हम यह मान कर चलते हैं कि हमारे साहित्य मे कुछ भी नयी बात होगी तो वह जरूरी तौर पर विदेशी प्रभाव का परिणाम होगी। अपने साहित्य मे 'नया' हम उसी को मानेंगे, जिस का कोई विदेशी मॉडल हमे मिल जायेगा, यानी जिसे हम 'पुराना' पहचान लेंगे।

साहित्यकार के अपने परिवेश मे, अपनी निकटतम परिस्थिति म भी ऐसे कोई कारण, ऐसी प्रवृत्तियाँ या ऐसे परिवर्तन हुए, जो उसे नयी प्रेरणा दे सकते या नयी दिशा मे बढने को बाध्य कर सकते, यह सवाल उठाना हमारे आलोचक को आज अनावश्यक जान पडता है। अनावश्यक ही नही, अनेक आलोचक ऐसे भी हैं, जो इसे देशीयता का आग्रह कह कर इसे निरा दकियानूसपन सिद्ध करना चाहते हैं देशीय होना मानो आधुनिक का ठीक उल्टा है, और आधुनिक होना क्योंकि एक मूल्य है इसलिए देशीय होना एक दोष है।

दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते हैं कि केवल प्रभावो के मामले मे नही, जीवन स्थितियों के मामले मे भी हम ने यह सम्भावना करना तक छोड दिया है कि हमारी स्थिति मे ऐसा भी कुछ हो सकता है जो हमारा है, जो सिर्फ पश्चिम के प्रभाव या पश्चिम की नक्ल मे से नही निकला है।

ऐसी आलोचना और ऐसे मूल्य-निर्धारणो पर आधारित अध्यापन को मैं तो साहित्य-बोध की और स्वय साहित्य की हत्या का आयोजन ही कहूँगा। काफी साहित्यकार और नवोदित लेखक इस अभियान के शिकार भी हो चुके हैं कुछ मारे ही जा चुके हैं तो कुछ घायल हो कर अपने को किसी तरह घसीट रहे हैं। अब समय है कि ऐसी सारी आलोचना और उस पर आधारित अध्यापन-व्यवस्था एक तरफ रख दी जाये। खरी व्यक्तिगत अनुभूति भी मूल्य-

वान् है, पर खरा भारतीय अनुभव किसी तरह कम मूल्यवान् नही है, और दोनो एक-दूसरे की कसौटियाँ हैं। नि सन्देह बाहर के प्रभाव होते हैं, होने चाहिए, पर सास्कृतिक प्रभावो की प्रक्रिया इतनी सरल और इकहरी नही होती, और प्रभाव ग्रहण करने वाली सस्कृति जितनी प्राणवान् होती है, उस की ग्रहण की प्रक्रिया भी उतनी ही जटिल और अनेकायामी होती है—बल्कि वहाँ फिर मामूली से प्रभाव की प्रक्रिया इतनी जटिल, उलझी हुई और दूरव्यापी होती है कि उसे समझने मे आलोचक को बरसो लग सकते हैं।

वन, जन, और औपनिवेशिक मन

इतिहासकारों और इतिहास के अध्येताओं को इतिहास अपने पूरे ब्यौरे मे याद रहता होगा। लेकिन जन-समाज की स्मृति उस ढंग से काम नही करती। जन-समाज के पट पर इतिहास का पूरा ब्यौरा नही, महत्त्वपूर्ण घटनाओं का एक-एक सूत्र-वाक्य अंकित हो जाता है मानो तेजाब से लिख दिया गया हो; और इसी सूत्र के सहारे वह जब चाहे पूरी ऐतिहासिक घटना को अपने सामने दुबारा मूर्त्त कर लेता है। हो सकता है कि घटना का यह दुबारा रचा हुआ रूप इतिहासकार के अभिलेख से कुछ भिन्न हो। लेकिन जहाँ ऐसा होता भी है, वहाँ भी जन-मानस मे बसे हुए इतिहास का महत्त्व कम नही होता क्योंकि वास्तव मे जीवित इतिहास तो वही होता है। पुस्तकों मे और अभिलेखो मे रखा हुआ इतिहास मानो राख का ढेर है जिसके साक्ष्य से हम आग तक पहुँच सकते हैं, लेकिन जन-मानस में सुरक्षित इतिहास वह आग है जो अतीत को जीवित रखती है और वर्तमान मे प्रेरणा देने वाली होती है।

रामायण मे राम का एक ही कथन "रामो द्विर्नाभिभाषते" अथवा "रघु-कुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहि पर वचन न जाई", अथवा महाभारत का "सूच्याग्र न दास्यामि विना युद्धेन केशव"—ऐसे ही सूत्र-वाक्य हैं जिनके सहारे जन-मानस को मानो बिजली की कौंध में पूरी रामायण अथवा पूरा महाभारत दिख जाता है। यों तो महाभारत में ऐसी और भी उक्तियाँ मिल जायेंगी जिन में से कोई भी एक अकेली पूरी कथा को मूर्त्त करने मे सहायक हो सकती हैं।

बात केवल ऐसे महद्ग्रन्थों तक सीमित नहीं है। प्रदेशो के इतिहास मे भी ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जो पूरे प्रदेश के लोक-जीवन को आज भी उद्वेलित कर सकती हैं। और इन घटनाओं का भी शक्ति-स्रोत मानो ऐसे ही एक-एक बीज-मन्त्र मे संचित हो कर रह जाता है। इस समय हमें ऐसे ही दो वाक्य

याद आ रहे हैं जिन मे बसी हुई शक्ति आज फिर नयी हो गयी है और अपने-अपने प्रदेश के जीवन को ही नही, सारे देश को प्रेरणा दे सकती है। एक वाक्य है असमिया कुमार लाछित का, जिसने प्रदेश को गृह-युद्ध की आग से बचाने और राष्ट्र के जीवन से जोडने के लिए अपनी सारी व्यथा को एक छोटी सी उक्ति मे सचित कर दिया था "मेरे मामा से मेरा देश बडा है"। यह वाक्य ऐतिहासिक घटनाओ को तो फिर से मूर्त्त करता ही है, क्या आज के लिए भी एक ज्वलन्त आदर्श हमारे सामने नही रखता—केवल असम के लिए नही, पूरे देश के लिए ?

दूसरा वाक्य राजस्थान के बिश्नोई शहीदो की नेत्री अमृता देवी का है जिसने राजा के लकडहारो से वृक्ष की रक्षा करते हुए स्वय कट कर प्राण दे दिये थे "सिर सांटे रूख रहे तो भी सस्तो जाण"—शीश कटा कर भी वृक्ष बचाया जा सके तो भी सस्ता सौदा है।

यो तो इन दोनो बीज-मन्त्रो को जोड कर उन से अर्थ निकालना भी कठिन नही है। दोनो की आज-कल अलग-अलग महत्ता है, क्योकि दोनो के ऐतिहासिक सन्दर्भ हैं। लेकिन बात को यो भी रखा जा सकता है कि आज देश की रक्षा के लिए वृक्ष की रक्षा का उतना ही महत्त्व है जितना आज से ३३ वर्ष पहले देश को स्वाधीन करने का था। पेडो की रक्षा के लिए दिये जाने वाले बलिदान का आज वही महत्त्व होगा जो कभी आज़ादी के लिये दिये जाने वाले बलिदान का होता, क्योकि आज यह अनुभव करने की जरूरत है कि देश की आज़ादी उस की वन-सम्पदा के साथ उतनी ही जुडी हुई है जितनी उस की प्रजा-रूपी सम्पदा के साथ। जिस प्रकार राष्ट्रीय सन्दर्भ में, राष्ट्र की शक्ति के सन्दर्भ में, देश की जनता के बारे मे एक आमूल दृष्टि-परिवर्तन होने की जरूरत है, उसी तरह उन्ही सन्दर्भो मे वृक्ष और वन-सम्पदा के बारे मे भी आमूल दृष्टि-परिवर्तन अनिवार्य है।

और यही शायद यह भी कहा जा सकता है कि जैसे राष्ट्र-जीवन के और अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे यह सम्भव नही है कि सोचना और नियोजन केवल शिखर स्तर पर हो और उस के प्रभाव नीचे तक बहते हुए चले आयें, उसी तरह यह भी सम्भव नही है कि शिखर के सोचने से जन-चरित्र बदला जा सके, न यही कि प्राकृतिक सम्पदा के साथ हमारा सम्बन्ध परस्पर पोषक बन जाये। जो जड का काम है वह फूलों को नही सौंपा जा सकता।

और जड का काम इस सन्दर्भ मे यह है कि वन-सम्पदा के साथ भारतीय समाज का सम्बन्ध बदले—पूरा समाज अनुभव करे कि "सिर सांटे रूख रहे तो भी सस्तो जाण"।

यह भी कह सकते हैं कि वन-सम्पदा और जन-सम्पदा, दोनो एक दूसरे

से आत्यंतिक रूप से जुड़े हुए हैं और असल में तो दोनों ही के बारे में नयी दृष्टि से सोचने की जरूरत है। और यह केवल शिखर स्तर पर नहीं, हर व्यक्ति को स्वय अपने और हर पेड़ के बारे में नय ढंग से सोचने की और एक प्रत्यक्ष नया रिश्ता कायम करने की जरूरत है। खेजड़ी के जिन पेड़ों के लिए अमृता देवी और उस की साथिनों ने अपने प्राण दिये थे उन्हें वन विज्ञानी एक घटिया किस्म का मरुस्थलीय झाड़ भी कहेंगे, लेकिन जिन लोगों ने उन पेड़ों के लिए प्राण दिये थे वे जानते थे कि कैसे दोनों का जीवन एक दूसरे से बँधा हुआ है। बल्कि मनुष्य के बिना पेड़ का जीते रहना तो सम्भव भी था, पेड़ के बिना मनुष्य का मरण निश्चित था। और यह बात ढाई सौ साल पहले जितनी सच थी आज उस से कहीं अधिक सच है। इतना ही नहीं, इस सच्चाई को भूलने का जो भयानक दंड मिल सकता है उस के लक्षण भी आज स्पष्ट दीख सकते हैं। आज यह विभीषिका हमारे सामने है कि सारा उत्तर भारत जीवनदायिनी गंगा के बावजूद एक विशाल मरुस्थल बन जाय—और गंगा का जल भी फिर उस में जान न डाल सके, केवल बाढ़ ला सके।

एक समय था जब जन समाज की हर इकाई को एक उपजाऊ आर्थिक इकाई के रूप में देखा जा सकता था। तब 'पूतों फलो" का आशीर्वाद सार्थक होता था क्योंकि वह 'दूधों नहाओ" के साथ जुड़ा हुआ होता था। किसान के घर में एक और बेटे का जन्म इसलिए उत्सव का कारण था कि उस से माँ वसुंधरा से कुछ और प्राप्त करने वाला एक श्रम-समर्थ हाथ मिल जाता था। आज धीरे धीरे हम यह पहचानने लगे हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या उत्सव करने की बात नहीं रही क्योंकि एक तरफ उपजाऊ हाथों के लिए करने को काम नहीं है, गोड़ने को भूमि नहीं है, और दूसरी तरफ पहले ही से संकटग्रस्त परिवार में खाने वाला एक मुँह और बढ़ जाता है। बेटे और बेटी के बारे में जो भेद भाव भारतीय समाज के अधिकांश भाग में चला आता था वह अभी पूरी तरह नहीं बदला है, लेकिन सन्तान मात्र के बारे में नये ढंग का चिन्तन जड़ पकड़ने लगा है।

लेकिन जहाँ तक वन-सम्पदा की बात है, इसे देश का दुर्भाग्य ही कहना होगा कि बहुत थोड़े लोग अभी उस के बारे में नये ढंग से सोचने लगे हैं या उस के अनुसार अपना आचरण बदलने लगे हैं। और जहाँ तक सरकारी चिन्तन और नीति का सवाल है उस में कोई परिवर्तन नहीं आया है। यह कहना गलत नहीं होगा कि वन-सम्पत्ति के बारे में सरकारों का चिन्तन अभी तक ऐसा ही है मानो देश को आज़ादी मिली ही न हो, क्योंकि सभी सरकारें वनों के बारे में अभी तक उपनिवेशवादी मन से ही सोचती हैं—कि वन

एक आर्थिक स्रोत है जिसे दिन-ब-दिन बढती हुई तेजी से दुहते चलना है। सरकारी वन-नीति अंग्रेजो ने उन्नीसवी शती मे बनायी थी जब उन का पहला सरोकार यही था कि भारत का अधिक-से-अधिक आर्थिक दोहन करना है और ब्रिटेन के हित मे करना है। बीसवी शती के चौथे चरण मे भी इस दोहन-नीति मे कोई परिवर्तन नही हुआ है। आज भी सरकारें उसी मुनाफा-वृत्ति से भारत के वनो का दोहन करती हैं। यह दोहन आज ब्रिटेन के हित मे नही है, लेकिन किस के हित मे है, यह पूछें तो इतना तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह भारत अथवा भारतवासी के हित मे नहीं है। जिस के हित मे है उसे शायद आज भी ब्रिटेन का पर्याय मान लेना अनुचित न होगा अंग्रेज न हो कर भी यह प्रभु-वर्ग अंग्रेजियत म डूबा हुआ है और भारत के प्रति उस का रवैया ठीक वही है जो एक उपनिवेशवादी का होता।

'सिर साँटे रूख रहे तो भी सस्तो जाण'—शीश कटने पर भी वृक्ष रह जाय तो भी सौदा सस्ता समझो—यो तो यह भी एक तरह का 'आर्थिक' समीकरण ही है। सस्ते-महगे का विचार तो, कह सकते हैं, आर्थिक आधार पर ही होता है। लेकिन जब हम अपने प्राणो को भी आर्थिक समीकरण मे डाल देते हैं तब 'अर्थ' का अभिप्राय केवल पैसा या मुनाफा नही रहता। तब अर्थ उन तीन पुरुषार्थों मे से एक हो जाता है जिस के आधार पर ही मनुष्य अपने जीवन को अर्थवान् बनाता है। देश मे जहाँ-तहाँ थोडे से लोग देश की प्राकृतिक सम्पदा के साथ देश के जन मात्र के सम्बन्ध के बारे मे सही ढग से चिन्तन पर जोर दे रहे हैं। उन का काम जनसख्या की दृष्टि से अभी छोटे पैमाने पर है। लेकिन वे जिन बुनियादी सत्यो की ओर ध्यान दिला रहे हैं उन का महत्त्व आर्ष वाणी से कुछ कम नही है। गढवाल-कुमाऊँ मे, सन्थाल परगना मे, मारवाड म, साबरकाँठा मे, बस्तर मे, पर्वतीय केरल मे, जहाँ तहाँ कुछ स्वर उठ रहे हैं जिन के पीछे अध्यात्म का भी बल है, लेकिन केवल अध्यात्म का नही, सारे ससार का उन्नत वैज्ञानिक चिन्तन भी उन के पक्ष मे है। और वह पक्ष यही है कि वन-सम्पदा—कोई भी प्राकृतिक सम्पदा—मनुष्य द्वारा दोहन के लिए नही है और उसे केवल आय अथवा मुनाफे की दृष्टि से देखना अनर्थकर है, बल्कि एक तरह का आत्मघात है। वन इसलिए नही हैं कि उस से वन-विभाग को आय हो, ठीक वैसे ही जैसे देश मे जन इसलिए नही है कि उस से सरकार को आयकर की प्राप्ति हो सके। वनो को सरकारी आय का साधन मानना ठीक वैसा ही होगा जैसा देश की जनता को सरकारी आय का साधन मानना। यह तुलना इसलिए जरूरी है कि वन-विभाग के अधिकारियो की दलीलो मे छिपी हुई भयानकता स्पष्ट हो सके। अगर हम मनुष्य के सास्कृतिक और आध्यात्मिक विकास को भुला कर या

एक तरफ हटा कर केवल आय-कर की दृष्टि से उस पर विचार कर सकें, और यह दलील पेश कर सकें कि केवल अमुक-अमुक चार-छ या आठ दस या बीस-पचीस जातियों के मानव प्राणी 'उपयोगी' हैं क्योंकि जल्दी और अधिक लाभ देने वाले हैं, इस लिए उन्हीं का सवर्द्धन किया जाये और बाकी सब को साफ कर दिया जाये या साफ हो जाने दिया जाये, तभी हम जगलों के बारे म भी ऐसी दलील दे सकते हैं। लेकिन सभी *वन-विभागीय अधिकारी ठीक* यही दलील देते हैं—अमुक-अमुक जातियों के पेड मुनाफा देने वाले हैं या जल्दी आय बढाने वाले है इसलिए उन्हीं के नये वन बनाये जाए और बाकी वन साफ कर दिया जाय या साफ हो जाने दिया जाये।

क्या वनस्पति जगत की सृष्टि इसलिए हुई थी कि कालान्तर मे 'आर्थिक मनुष्य' द्वारा उस का दोहन हो सके? क्या यह वैर और विनाश का रिश्ता केवल उपनिवेशवादी युग और उसी युग के हीन दृष्टि विज्ञान का परिणाम नहीं था? क्या आज विज्ञान स्वय इस बात को स्वीकार नहीं करता? क्या *आज सभी वैज्ञानिक अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के पश्चिमी विज्ञान की* अदूरदर्शिता से लज्जित नहीं हैं? और क्या उस युग के अपराधों का मार्जन करने के लिए पर्यावरण के बारे मे नये चिन्तन पर जोर नहीं दे रहे हैं? क्या आज समस्त विज्ञान—केवल वनस्पति विज्ञान नहीं, विज्ञान मात्र—इस बात को नहीं मानता कि वनों और वनस्पतियों का एक वैश्विक अर्थशास्त्र भी है और अगर मनुष्य उन के इस वैश्विक आयाम की उपेक्षा करता है तो आत्म-हत्या ही करता है?

वैश्विक आयामों को छूता विज्ञान, मनुष्य को और उस के पर्यावरण को *और दोनों के सम्बन्धों* को फिर एक आध्यात्मिक अर्थवत्ता भी दे रहा है। इस प्रकार जिसे हम नयी दृष्टि या नया चिन्तन कहते है वह पुरानी दृष्टि और पुराने चिन्तन से भी जुड जाता है, तो इसे नये चिन्तन की कमजोरी न मान कर उस की अतिरिक्त शक्ति मानना चाहिए। हम ने आरम्भ मे कहा था कि कुछ सूत्र वाक्य ऐसे होते हैं जिन के सहारे जातियाँ अपने इतिहास को पुनरुज्जीवित कर लेती हैं। हम कह सकते हैं कि दृष्टि के नये उन्मेष भी ऐसे होते हैं जिन के भीतर से एक बिजली की कौंध सारे पुराने परिदृश्यों को भी आलोकित कर जाती है। जैसे इतिहास फिर से रचित हो कर केवल रूपान्तरित ही नहीं होते, नये प्राण पा जाते हैं, उसी तरह नयी के सहारे पुरानी ज्ञान दृष्टि भी केवल रूपान्तरित नहीं होती, नये प्राण पा जाती है।

क्या कोई तरीका है कि समग्र पर्यावरण के साथ मानव जाति के सम्बन्ध के बारे म जहाँ-तहाँ जो नया आलोक फूट रहा है उस की छुअन सरकारी अधिकारियों को उन के सुसज्जित लेकिन बन्द दफ्तरों म भी पहुँचायी जा सके?

एक आर्थिक स्रोत है जिसे दिन-ब-दिन बढती हुई तेजी से दुहते चलना है। सरकारी वन-नीति अंग्रेजो ने उन्नीसवी शती मे बनायी थी जब उन का पहला सरोकार यही था कि भारत का अधिक-से-अधिक आर्थिक दोहन करना है और ब्रिटेन के हित में करना है। बीसवी शती के चौथे चरण मे भी इस दोहन-नीति मे कोई परिवर्तन नही हुआ है। आज भी सरकारें उसी मुनाफा-वृत्ति से भारत के वनो का दोहन करती हैं। यह दोहन आज ब्रिटेन के हित मे नही है, लेकिन किस के हित मे है, यह पूछें तो इतना तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह भारत अथवा भारतवासी के हित मे नहीं है। जिस के हित मे है उसे शायद आज भी ब्रिटेन का पर्याय मान लेना अनुचित न होगा अंग्रेज न हो कर भी यह प्रभु-वर्ग अंग्रेजियत मे डूबा हुआ है और भारत के प्रति उस का रवैया ठीक वही है जो एक उपनिवेशवादी का होता।

'सिर साँटे रुख रहे तो भी सस्तो जाण'—शीश कटने पर भी वृक्ष रह जाय तो भी सौदा सस्ता समझो—यो तो यह भी एक तरह का 'आर्थिक' समीकरण ही है। सस्ते-महगे का विचार तो, कह सकते हैं, आर्थिक आधार पर ही होता है। लेकिन जब हम अपने प्राणो को भी आर्थिक समीकरण मे डाल देते हैं तब 'अर्थ' का अभिप्राय केवल पैसा या मुनाफा नहीं रहता। तब अर्थ उन तीन पुरुषार्थों मे से एक हो जाता है जिस के आधार पर ही मनुष्य अपने जीवन को अर्थवान् बनाता है। देश मे जहाँ-तहाँ थोडे से लोग देश की प्राकृतिक सम्पदा के साथ देश के जन मात्र के सम्बन्ध के बारे मे सही ढग से चिन्तन पर जोर दे रहे हैं। उन का काम जनसख्या की दृष्टि से अभी छोटे पैमाने पर है। लेकिन वे जिन बुनियादी सत्यो की ओर ध्यान दिला रहे हैं उन का महत्त्व आर्ष वाणी से कुछ कम नही है। गढवाल-कुमाऊँ मे, सन्थाल परगना मे, मारवाड मे, साबरकाँठा मे, बस्तर मे पर्वतीय केरल मे, जहाँ-तहाँ कुछ स्वर उठ रहे हैं जिन के पीछे अध्यात्म का भी बल है, लेकिन केवल अध्यात्म का नही, सारे ससार का उन्नत वैज्ञानिक चिन्तन भी उन के पक्ष मे है। और वह पक्ष यही है कि वन-सम्पदा—कोई भी प्राकृतिक सम्पदा—मनुष्य द्वारा दोहन के लिए नहीं है और उसे केवल आय अथवा मुनाफे की दृष्टि से देखना अनर्थकर है, बल्कि एक तरह का आत्मघात है। वन इसलिए नही है कि उस से वन-विभाग को आय हो, ठीक वैसे ही जैसे देश मे जन इसलिए नही है कि उस से सरकार को आयकर की प्राप्ति हो सके। वनो को सरकारी आय का साधन मानना ठीक वैसा ही होगा जैसा देश की जनता को सरकारी आय का साधन मानना। यह तुलना इसलिए जरूरी है कि वन-विभाग के अधिकारियो की दलीलो मे छिपी हुई भयानकता स्पष्ट हो सके। अगर हम मनुष्य के सास्कृतिक और आध्यात्मिक विकास को भुला कर या

क तरफ हटा कर केवल आय-व्यय की दृष्टि से उस पर विचार कर सकें, और यह दलील पेश कर सकें कि केवल अमुक-अमुक चार-छः या आठ-दस या पच्चीस जातियों के मानव प्राणी 'उपयोगी' हैं क्योंकि जल्दी और अधिक लाभ देने वाले हैं, इस लिए उन्हीं का सवर्द्धन किया जाये और बाकी सब को साफ कर दिया जाये या साफ हो जाने दिया जाये, तभी हम जगलों के बारे में भी ऐसी दलील दे सकते हैं। लेकिन सभी वन-विभागीय अधिकारी ठीक यही दलील देते हैं—अमुक-अमुक जातियों के पेड मुनाफा देने वाले हैं या जल्दी आय बढ़ाने वाले हैं, इसलिए उन्हीं के नये वन बनाये जाएं और बाकी वन साफ कर दिया जाय या साफ हो जाने दिया जाये।

क्या वनस्पति जगत की सृष्टि इसलिए हुई थी कि कालान्तर में 'आर्थिक मनुष्य' द्वारा उस का दोहन हो सके? क्या यह वैर और विनाश का रिश्ता केवल उपनिवेशवादी युग और उसी युग के हीन-दृष्टि विज्ञान का परिणाम नहीं था? क्या आज विज्ञान स्वयं इस बात को स्वीकार नहीं करता? क्या आज सभी वैज्ञानिक अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के पश्चिमी विज्ञान की अदूरदर्शिता से लज्जित नहीं हैं? और क्या उस युग के अपराधों का मार्जन करने के लिए पर्यावरण के बारे में नये चिन्तन पर ज़ोर नहीं दे रहे हैं? क्या आज समस्त विज्ञान—केवल वनस्पति विज्ञान नहीं, विज्ञान मात्र—इस बात को नहीं मानता कि वनों और वनस्पतियों का एक वैश्विक अर्थशास्त्र भी है और अगर मनुष्य उन के इस वैश्विक आयाम की उपेक्षा करता है तो आत्म-हत्या ही करता है?

वैश्विक आयामों को छूता विज्ञान, मनुष्य को और उस के पर्यावरण को और दोनों के सम्बन्धों को फिर एक आध्यात्मिक अर्थवत्ता भी दे रहा है। इस प्रकार जिसे हम नयी दृष्टि या नया चिन्तन कहते हैं वह पुरानी दृष्टि और पुराने चिन्तन से भी जुड़ जाता है, तो इसे नये चिन्तन की कमजोरी न मान कर उस की अतिरिक्त शक्ति मानना चाहिए। हम ने आरम्भ में कहा था कि कुछ सूत्र-वाक्य ऐसे होते हैं जिन के सहारे जातियाँ अपने इतिहास को पुनरुज्जीवित कर लेती हैं। हम कह सकते हैं कि दृष्टि के नये उन्मेष भी ऐसे होते हैं जिन के भीतर से एक बिजली की कौंध मारे पुराने परिदृश्यों को भी आलोकित कर जाती है। जैसे इतिहास फिर से रचित हो कर केवल रूपान्तरित ही नहीं होते, नये प्राण पा जाते हैं उसी तरह नयी के सहारे पुरानी ज्ञान-दृष्टि भी केवल रूपान्तरित नहीं होती, नये प्राण पा जाती है।

क्या कोई तरीका है कि समग्र पर्यावरण के साथ मानव जाति के सम्बन्ध के बारे में जहाँ-तहाँ जो नया आलोक फूट रहा है उस की छुअन सरकारी अधिकारियों को उन के सुसज्जित लेकिन बन्द दफ्तरों में भी पहुँचायी जा सके?

सारे इस सुनहले चँदोवे से
पत्ता कुल एक झरा,
पर उसी की अकिंचन
झरन के
हर कँपने में
मैं कितनी बार मरा !

यह कविता यों तो जीवन के बारे में कवि की निजी प्रतिक्रिया है, लेकिन वास्तव में हर पत्ते की हर झरन के साथ समूची मनुष्य जाति मरती है। मरती है तो इस पहचान में जीती है पुनरुज्जीवित होती है। इसीलिए वह सौदा सस्ता सौदा होता है—सिर गँवा कर जो पेड़ बचाया जाता है उस के सहारे मनुष्य मात्र फिर जी उठता है।

भालू चढ़ गया पहाड़ पर

अभी उस दिन मेरे परिचित नौजवान दम्पत्ति मिलने आये थे। साथ उन की छोटी लडकी थी, जिसे कुछ महीने पहले किंडरगार्टन मे भर्ती कराया गया था। 'डैडीजी' और 'ममीजी' को इस बात का बडा गर्व था कि स्कूल मे 'बेबीजी' ने कई गाने सीख लिये हैं। और घरो मे भी यह सन्दर्भ उठता ही होगा और तुरत बेबीजी को गाना सुनाने को कहा जाता होगा; मेरे सामने भी कहा गया और बेबीजी ने बडी अदा से अग्रेज़ी के दो-तीन 'गाने' भी सुना दिये—सभी मध्यवर्गीय डैडियो-ममियो ने ये सुन रखे होगे—'बा-बा ब्लैक शीप', 'टिंकल बेल्स', आदि।

मैंने पूछा: 'कोई हिन्दी गाना भी आता है—स्कूल मे बिल्कुल नही सिखाते?'

थोडे-से असमजस के बाद ममीजी ने बेबी को याद दिलाया, 'बेटा, वह सुना दे भालू वाला—' और थोडे निहोरे के बाद बेबीजी ने सुना भी दिया। अंग्रेजी पद्धति के जिन शिशु-विहारो मे कुछ-न-कुछ हिन्दी मे सिखाना भी जरूरी हो जाता है, उन मे दो-चार अंग्रेजी बाल-गीतो के हिन्दी रूपान्तर चले हुए हैं—उन्ही मे से एक:

'भालू चढ गया पहाड़ पर,
कि देखे कुछ वहाँ।'

मैंने बेबीजी की अपेक्षित सस्तुति की; थोडी देर बाद डैडीजी-ममीजी विदा लेकर चले गये। पहाड पर चढता भालू मेरे पास रह गया।

आज उसी भालू की याद आ रही है। पहाडो का सीज़न शुरू हो गया है: सभी पहाड की ओर दौडे जा रहे हैं। एक ज़माना था, जब थोडे-से लोग दिल्ली-शिमला 'करते' थे, तब 'पहाड जाने' का इतना चलन नही था, पर

दिल्ली शिमला करने वालो का, और कुछ अन्य पहाडी स्टेशनो की ओर दौडने वाले साहबो और खास कर मेम-साहबो (और उनके कुत्तो !) का अमला भी साथ जाता ही था। अब वे साहब तो रहे ही नही, उनका स्थान लेने वाले जो देशी बडे साहब आये हैं, वे तो बारी-बारी से एक-एक पहाडी स्थल पर कोई-न-कोई 'जरूरी' सरकारी मीटिंग या सेमिनार आदि रख लेते हैं जिससे ठडी जगह तफरीह का उद्देश्य भी पूरा हो जाये, निजी प्रबन्ध भी न करना पडे और न सिर्फ खर्चा ही बच जाये, बल्कि कुछ खरीददारी के लिए भत्ता भी बन जाये। फिर जो गैर-सरकारी अमीर लोग हैं, वे भी अब पहाड नही जाते, अपने शहर मे या शहर के बाहर 'फार्म' मे वातानुकूलित घरो मे गर्मियां बिताते हैं। जिन्हें न चलना फिरना है, न शरीर को व्यायाम का ही कष्ट देना है, न प्रकृति से कोई प्रयोजन है उन्हे पहाड से क्या लेना-देना ? कभी-कभार मोटर मे बैठ कर 'वीक-एंड पार्टी' के लिए कही हो आना दूसरी बात है…

लेकिन फिर भी मैंने लिख दिया कि 'सभी पहाड की ओर दौडे जा रहे हैं।' ये *'सभी' कौन है ? न तो बडे साहब अब पहाड को दौडते हैं, न बडे* सेठ-धनी, और जो गरीब लोग हैं उन के जाने का तो सवाल ही कहां उठता है। तो ये 'सभी' वास्तव मे वे लोग हैं, जिन्हे हिन्दी का कहानी-लेखक 'आम आदमी' कहता है– मध्यवर्गीय, मध्य-वित्तीय शहरी लोग, छोटे व्यापारी, छोटे अफसर और उनके परिवार, ठेकेदार और मौसमी दुकानदार, विश्व-विद्यालयो के विद्यार्थी और नव-स्नातक, और हां, इन्ही वर्गों और श्रेणियो के नव-विवाहित नव-विवाहितो का पहाडी स्टेशनो से—पहाडो से नही, केवल स्टेशनो से—एक व्यापक नया रिश्ता बन गया है। यहां तक कि पहाडो मे अब एक अलग 'हनीमून सीजन' की चर्चा होने लगी है, जिसका हालिडे सीजन से सीधा सम्बन्ध नही है। घोषित अथवा अघोषित रूप मे भारत के मध्यवर्ग ने 'हनीमून' की प्रथा भी अपना ली है जैसे कि उसने इससे पहले अनेक अजीबो-गरीब विदेशी रस्म रिवाज भी अपना लिये हैं, जिन्हें अब वह विवाह की 'सनातन परम्परा' का अग मानता है।

तो ये ही लोग हैं वे 'सभी', जो पहाड दौडे जा रहे है। क्यो दौडे जा रहे हैं इसका जवाब सोचने के लिए रुकने का समय नही है—रुके और कहीं पीछे छूट गये तो फिर टिकट भी नही मिलेगा—और गर्मियो के बाद लोग जब लौट कर अपनी रगरेलियो की चर्चा करेंगे, तो जवाब मे कहने को भी कुछ नही मिलेगा इसलिए—चलो पहाड

यो, भालू चढ रहा है पहाड पर—कि देखे कुछ वहां। उस बेचारे को

क्या मालूम कि वहाँ उसे कुछ नहीं मिलेगा। यह जो ठेलम-ठेल भीड़ पहाड़ को चली जा रही है इसलिए कि और भी 'सब' जा रहे हैं, और पहले बड़े आदमी जाते थे, इसलिए पहाड़ जाना बड़े आदमी होना है—क्या उसे मालूम है कि आज पहाड़ पर पीने को पानी तक नहीं है, रोशनी को बिजली नहीं है, सिवा काले बाजार के कहीं मिट्टी का तेल नहीं है? और तो और, जिन पहाड़ी स्थलों की शोभा ही वहाँ का पानी माना जाता था—जैसे नैनीताल—वहाँ पीने के पानी का यह हाल है कि ऊँची जगहों के लिए पानी मोटर में या खच्चरों पर लाद कर ले जाया जा रहा है, नीची जगहों पर कभी-कभी जो पानी नलों में आता है, उसके लिए मार मार होती है और बहरहाल सैलानी की तो पहुँच उस तक होती ही नहीं बाकी नीचे के होटलों में एक तसल्ली-बख्श झूठ का प्रचार कर दिया गया है कि 'पानी ऊँचाई पर नहीं चढ़ता, पर नीचे के नलों में रात में आ जाता है'—और इस झूठ से आश्वस्त लोगों के लिए रातों-रात ताल में ही बाल्टियाँ भर-भर कर पानी पहुँचाया जाता है—अधिकतर तल्लीताल का पानी जो पीने के लिए अनुपयुक्त ही नहीं, खतरनाक है…

पानी क्यों नहीं आता? 'क्योंकि बिजली नहीं है पम्प नहीं चलते, पानी ऊपर नहीं चढ़ाया जा सकता।' बिजली क्यों नहीं है? 'क्योंकि पानी नहीं है—देश में ही पानी का संकट है, उत्तर प्रदेश में तो खास तौर से—पन-बिजली की सारी व्यवस्थाएँ बेकार पड़ी हैं।'

पानी नहीं, क्योंकि बिजली नहीं, बिजली नहीं, क्योंकि पानी नहीं। अब बोलिए, इस गोल दलील से बचकर कहाँ जायेंगे? हठ करके पूछिए, शायद थोड़ा और सच सामने आये। पानी बिजली दोनों क्यों नहीं हैं? क्योंकि ऊपर पहाड़ों पर सब जगह जंगल काट लिये गये हैं—पानी आये तो आये कहाँ से? वर्षा होगी तो बाढ़ आ जायेगी, क्योंकि पानी को रोकने और संचित रखने वाले ऊँचे सदाबहार पेड़ और बांज के पेड़ तो सब काटे जा रहे हैं, और वर्षा नहीं होगी तो…नदी-नाले-सोते-नाले सब यों ही सूख रहे हैं, क्योंकि ऊपर जंगलों में और पेड़ों की जड़ों, छोटे पौधों और भरे पत्तों में रुक कर पानी भूमि में रुकेगा नहीं तो सोते और नाले कहाँ से भरेंगे?

असल बात यह है। इस पर बेचारे भानू का कोई बस नहीं है। बिजली नहीं है क्योंकि पानी नहीं है, पानी नहीं है और नहीं होगा क्योंकि ऊंचे जंगल साफ किये जा रहे हैं। ठेकेदारों के बेटे हनीमून के लिए पहाड़ पर जा रहे हैं, पर ठेकेदार खुद ऊपरी पहाड़ों पर और पेड़ कटवा रहे हैं।

पर जंगल तो 'राष्ट्रीय सम्पत्ति' है, 'हरा सोना' है! फिर पेड़ क्यों इतनी हृदयहीनता से काटे जा रहे हैं? और नये पेड़ों की रोपनी भी तो होती होगी।

जी हाँ। पर आपने सुना होगा, पानी को भी 'राष्ट्रीय सम्पत्ति' घोषित कर दिया गया है। उससे आपको मिलने लगेगा ऐसा थोडे ही है! हम-आप तो सोच सकते हैं कि किसी वस्तु को राष्ट्रीय सम्पदा घोषित करने के दो अर्थ हैं—एक तो उसकी सुरक्षा और सवृद्धि की जिम्मेदारी, दूसरे उसके व्यापक और उचित वितरण की व्यवस्था। अर्थात् पानी अगर राष्ट्रीय सम्पदा है, तो वह हम सबको समान रूप से सुलभ होना चाहिए और उसके सचय और सवर्द्धन की भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वह हमको मिलता रहे। पर सरकारें और प्रशासन-व्यवस्थाएँ ऐसा सोचती नही जान पडती। उनके सामने केवल एक बात है। वे लोग 'राष्ट्रीय सम्पदा' को केवल पूँजी के रूप मे देखते हैं, और पूँजी को एक न्यास के रूप मे नही, मुनाफा कमाने के एक साधन के रूप मे। यानी वन सम्पदा अगर सम्पदा है तो पूँजी है, उससे हमे ('हमे' यानी सरकार को!) मुनाफा होना चाहिए। सारे देश के सारे वन-विभाग सम्पदा के रक्षण-सवर्द्धन के लिए नही, उससे मुनाफा दिखाने के फेर मे हैं—क्योकि *सरकार ने इसी को उनकी दक्षता की कसौटी बना दिया है।*

और अब पानी भी राष्ट्रीय सम्पदा हो जायेगा (जो कि या वह है, असन्दिग्ध रूप से है) तो वहाँ भी जो बुद्धि काम करने लगेगी वह यह नही होगी कि पानी सबको सुलभ हो, वितरण की समान और आवश्यकता पर आधारित व्यवस्था हो। वहाँ यह बुद्धि काम करेगी कि सब नदी-नाला झरनो-स्रोतो पर राष्ट्र का (यानी सरकार का) अधिकार है और वितरण की व्यवस्था वही ठीक समझी जायेगी, जिसस मुनाफा हो, आमदनी बढे! क्या इस से आगे भी सरकारो की बुद्धि जायेगी? क्या हम—मतदाता और नागरिक—उन्हें बाध्य कर सकेंगे कि वे देश की सम्पदा को सम्पदा की दृष्टि से देखें, और उसे न्यास मान कर उसके प्रति अपना उत्तरदायित्व पूरा करें—क्योकि देश और राष्ट्र के प्रति उनकी जिम्मेदारी यही है और हो सकती है!

बिजली-पानी-पेड-पहाडी-वन—इनका अनिवार्य सम्बन्ध है। और ये सभी राष्ट्रीय सम्पदा है—सबका सरक्षण उसी बुद्धि से होना चाहिए—केवल मुनाफ के लिए नही। या जिन की अक्ल मुनाफे से आगे नही जाती, उन्हें यह भी जानना चाहिए कि प्रजा का स्वास्थ्य और सरक्षण भी एक मुनाफा है, बहुत बडा मुनाफा, क्योकि उस पर राष्ट्र का अस्तित्व ही निर्भर करता है। इस दृष्टि से पानी और पहाड ही नही, पहाड पर चढता हुआ भालू भी राष्ट्रीय सम्पदा है—सारे वन जन्तुओ और पक्षियो पतगो तक पर कृषि की, कृषक की और कृषि-प्रधान इस देश की निर्भरता एक प्रमाणित वैज्ञानिक सचाई है, केवल अभिजात सस्कार या सौन्दर्य-प्रेम नही। पर्वतीय वन की हत्या हिमालय की हत्या है, और अपने पर्वतीय प्रदेश को पानी से वचित करके हम उसे ही

नहीं उजाड़ेंगे, बल्कि देश को ही मरु मे परिवर्तित करेंगे। वनो के दोहन से जो भी मुनाफा होने वाला हो, देश ही उजड़ने लगेगा तो वह मुनाफा भोगेगा कौन ? ऊँचाइयो पर पानी की रक्षा करने वाले पेड नष्ट करके अगर हम निचली घाटियो और तराइयो (आह, क्या नाम था 'तराइयो—तल भी, तर भी, तर भी !—क्या अब हम उन्हें 'सुखाइयाँ' कहा करेंगे ?) मे ऐसे पेड लगायेंगे भी जो पानी को और सुखाते हैं—बाँज और देवदार के बदले सफेदा और युकलिप्टस !—तो उससे क्या लाभ होगा ? कागज की लुगदी के ठेकेदार उन पेडो के दाम तो अच्छे दे देंगे, पर उस कागज पर हम छापेंगे क्या—केवल अपने उजडने के विवरण ?

भालू चढ रहा है पहाड पर—कि 'देखे कुछ वहाँ'। बेचारा भालू ! 'कुछ भी न था वहाँ।' यहाँ तक कि भालू भी अब नही है पहाड पर ! और सभी पहाड दौडे जा रहे हैं, दौडे जा रहे हैं…

मानव होने का दर्द

सन् '७८ मे कुछ दिन के लिए जर्मनी गया था, तब स्वभावत अपने सुपरिचित केन्द्र हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय भी जाना हुआ था। बन्धुजनो से बातचीत के दौरान पता चला कि विश्वविद्यालय के चिकित्सा-सकाय मे एक परिसवाद हो रहा है, जिस का विषय है 'चिकित्सा के पुनर्मानवीकरण की आवश्यकता'। हाइडेलबर्ग का विश्वविद्यालय बहुत पुराना है और उस के जिन सकायो की कीर्ति मध्यकाल से ही यूरोप-भर मे फैली रही, उन मे चिकित्सा भी एक है इसलिए एक नयी आधुनिक चिन्ताधारा को सामने लाने का उस का प्रयास कोई अचरज की बात नही थी।

कुछ अध्यापको से जर्मन अस्पतालो मे रोगी और डाक्टर के बीच मानवीय सम्पर्क की चर्चा सुन कर मैं ने पूछा—"मेरा अमेरिका का एक निजी अनुभव सुनना चाहेगे?"

उन का कुतूहल देख कर मैं ने उन्हे जो बात सुनायी, वह सक्षेप मे यो है सन् १९७० मे पिछली बार जब कैलिफोर्निया मे व्याख्यान देने गया था तब छाती मे बायी ओर कुछ दर्द महसूस हुआ। दर्द अधिक नही था, पर तीन-चार दिन तक रोज़ वह जब तब होता रहा, तब—यह ध्यान म रखते हुए कि दिल का दौरा मुझे हो चुका था और डॉक्टर ने ऐसे किसी अकारण' दर्द की उपेक्षा न करने को कहा था—मैं ने अस्पताल को फोन कर के डाक्टर स समय चाहा। अस्पताल को फोन करने का कारण था। अमेरिका मे सभी स्वास्थ्य बीमा कराते है और विदेशी अध्यापको के लिए वह अनिवार्य होता है। विश्वविद्यालय की अपनी भी बीमा-योजना होती है, पर मुझे उन्ही की सलाह से एक दूसरे सगठन स सम्बद्ध होने को कहा गया था, जिस का चन्दा तो कुछ अधिक था, पर जिस की ख्याति बहुत थी और जिस के अपने कई अस्पताल होने के कारण बीमा कराने वालो को कई सुविधाएँ भी रहती थी—एक महत्त्वपूर्ण सुविधा यह थी कि सगठन अस्पताल मे भरती कराने

और उस का खर्च भरने में कोताही नहीं करता था—यानी संगठन के अपने अस्पताल में।

फ़ोन पर उधर से जवाब आया : "क्या १७ जून आप के लिए ठीक रहेगा?"

ध्यान रहे कि फोन मार्च महीने में किया जा रहा था—शायद ११-१२ तारीख थी।

मैंने कहा, "देखिए, दर्द मुझे आज है और चार दिन से है; और मेरी हृद्रोग की हिस्टरी भी है—"

उधर से जवाब यन्त्रवत् रखा था : "१७ जून का एपाएंटमेंट आप को चाहिए या नहीं?"

मैंने सोचा, और कुछ नहीं तो इस नामी-गरामी अस्पताल का अनुभव ही रहेगा; मैंने कहा, "ठीक है, समय दे दीजिए।"

"१७ जून को ११-१५ पर अस्पताल के रिसेप्शन में आ जाइये।"

अगले दिन अस्पताल से एक छपा हुआ जवाबी पोस्टकार्ड भी आ गया कि तारीख और समय की पुष्टि कर दूँ; साथ में यह हिदायत भी थी कि अगर किसी कारण मुझे उस समय का लाभ न उठाना हो तो एक सप्ताह पहले ज़रूर अस्पताल को सूचित कर दूँ। मैंने कार्ड भर कर भेज दिया, उसी दिन तीसरे पहर एक स्थानीय प्राइवेट डाक्टर के पास गया, जिस ने जाँच-पड़ताल कर के सप्ताह-भर की दवा दे दी और अपनी फीस ले ली—दर्द का हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं था और परिश्रम कुछ कम करने को कहा गया था—विशेष रूप से भोजन के बाद दो घंटे पढ़ने-लिखने पर रोक लगा दी गयी थी।

ख़ैर। मैं निश्चिन्त हो कर अपना कार्य करता रहा, मई में विश्वविद्यालय के काम से छुट्टी भी हो गयी, और मैं देशाटन करने चल पड़ा। जून के पहले सप्ताह में जब मैं शिकागो से लौटा, तब अस्पताल से एक और पोस्टकार्ड मिला, जिस में मुझे याद दिलाया गया था कि १७ जून को ११-१५ पर मुझे अस्पताल पहुँचना है; यह ताकीद भी थी कि न आ रहा होऊँ तो तुरन्त अस्पताल को सूचित कर दूँ। मुझे कोई कष्ट तो था नहीं, पर अस्पताल की परीक्षा-प्रक्रिया देखने के लिए मैंने फिर समय की पुष्टि कर दी।

१७ जून को समय से पाँच-एक मिनट पहले रिसेप्शन पर पहुँच गया। रजिस्टर पर समय, नाम, बीमा नम्बर आदि की पुष्टि हो गयी, तब मुझे एक पर्ची दे दी गयी और कहा गया कि हॉल के एक छोर पर बने हुए कई एक कटघरों में से एक ख़ाली कटघरे में चला जाऊँ। आगे के लिए निर्देश वहीं मिलेगा।

कटघरों के आगे पर्दे टंगे थे : कौन-सा ख़ाली है यह जानना कठिन नहीं

योरोप चला आया, दो महीने वहाँ रह कर सितम्बर मे जब स्वदेश लौटा, तब अस्पताल से एक कार्ड मुझे और मिला। 'जून मे परीक्षण के बाद मैंने इलाज अथवा अनुधावन के लिए अस्पताल से सम्पर्क नही किया है, यदि मुझे इलाज की आवश्यकता न हो तो अस्पताल को सूचना दे दूँ।'···

किस्सा सुना कर मैंने हाइडेलबर्ग के अध्यापक बन्धुओ से पूछा 'आप की क्या राय है ? इसे आप कार्यदक्षता कहेगे या मानवीय सम्पर्क की कमी ?'

वे बोले, 'हमारे यहाँ भी काफी बुरा हाल है, पर हम शायद इतने कार्य-दक्ष अभी नही हुए है ! यहाँ डाक्टर मरीज को देखता तो जरूर है—उसे देखने मे यन्त्रवत्ता अधिक और मानवीय सम्पर्क कम होता जा रहा है, यही हमारी शिकायत है मानवीय सम्पर्क इलाज का एक अनिवार्य अग है और बना रहना चाहिए।'

इस परिणाम से कौन सहमत नही होगा ? पर इस बात को थोडा समझने की ज़रूरत है। असल मे जिसे 'मानवीय सम्पर्क' कहा जा रहा है, वह वही चीज़ है, जिसे पुराने मुहावरे म समवेदना कहा जाता, या और भी पुरानी भाषा मे करुणा कहा जाता।

आज चिकित्सा कुशल है, कार्यक्षम है, दक्ष है, पर उस मे कही करुणा नही है। दर्द की दवा है, पर दर्द नही है। सफाई है। (वह भी अगर है !) पर सेवा नही है।

और जो जीवन मे सेवा-भाव का, या कारुण्य का, या मानवीयता का प्रश्न उठाता है, उसे सनकी समझा जाता है—या सन्त, जो कि आज सनकी से भी बडा मूर्ख गिना जाता है !

यो अभी तक जितनी बात कही गयी है, वह उन सम्पन्नतर देशो की है, जहाँ निष्कारुण्य का सम्बन्ध साधनो की कमी से नही, उन की बहुलता से है। यन्त्र क्योकि इतने सुलभ और दक्ष हो गये है कि सब काम यन्त्र के सुपुर्द कर के आदमी आदमी के प्रति उदासीन हुआ जा रहा है, इसलिए वहाँ फिर से मानवीय सम्पर्क और सेवाओ के मानवीयकरण की पुकार मची है।

पर भारत म—या अन्य अल्पविकसित और विकासमान देशो मे ?

वहाँ भी यह प्रश्न कम तीखा, कम दारुण नही है, पर वहाँ साधन-बहुलता के कारण नहीं। *यहाँ यन्त्र भी नही है, साधन भी नही है—और करुणा भी नही है या दुर्लभ होती जा रही है* हमारा समाज पश्चिम के समाज से किसी तरह कम हृदयहीन नही है, शायद कुछ अधिक ही होता जा रहा है। वहाँ सुख-सुविधा मुहय्या कर के तब मानवीय सवेदना से मुक्ति चाही गयी, और

फिर अब उस को ले कर चिन्ता और आत्मग्लानि भी है। और सेवापरायणता या आदर्शोन्मुखता दुर्लभ भले ही हो, उस के प्रति तिरस्कार या अवहेलना का भाव तो नहीं मिलेगा, वह एक मूल्य है और उच्चतर मूल्य है, यह सभी मानेंगे, पर यहां ? किसी अस्पताल में—बल्कि अस्पताल के बाहर ही !—देख लीजिये कहां है वह मानवीय सम्पर्क ? समवेदना ? वह करुणा ? और कहां है वह यान्त्रिक सुविधा ही, जिस की ओट ले कर हम अपने मानवीय दायित्व से भागने का रास्ता खोजते ?

डाक्टर हैं—और डाक्टरी के विद्यार्थी हैं—जो तर्क देते हैं (और सच-मुच मानते हैं !) कि जब सारे समाज में कहीं कोई आदर्श नहीं है तो उन्हीं से क्यों आदर्शवादिता की मांग की जाये ? एक हद तक यह बात ठीक भी है। आदमी को पहले साधारण आदमी मान कर चलना चाहिए—पहले से ही उस पर असाधारणत्व का बोझ नहीं लादना चाहिए। पर पेशेवर काम या नौकरी का यह तर्क कहां तक जा सकता है, जाने दिया जा सकता है ? क्या सभी पेशों में पैसा और स्वार्थ-सेवा का तर्क एकमात्र तर्क होगा, केवल इसलिए कि वह 'पेशा' है ? और क्या हर कर्म इसलिए 'पेशा' हो जाएगा कि वह विशेष ज्ञान और दीक्षा पर निर्भर करता है ? हमारे ही जीवन-काल में अध्यापक और चिकित्सक के बारे में धारणा बिल्कुल दूसरी थी और अब बदल गयी है। जब कि पश्चिम में, जहां विकास और समृद्धि के (जो हमारे पास नहीं है) आधार पर वह नयी मानसिकता बनी जो हम ने ओढ़ ली—आज भी सेवा-भाव के प्रति सम्मान है। वहां पेशेवर डाक्टरों और नर्सों के समान्तर सेवा-रत मिशन भी हैं और समाज सेवा-भाव को परिहास का विषय नहीं बनाता।

यों तो साधु-सन्यासी से भी विशेष ज्ञान और दीक्षा अपेक्षित है, पुजारी-उपाध्याय-आचार्य से भी, क्या उन के लिए भी हम मान लें कि ये सब भी 'पेशेवर' आदमी हैं और इसलिए इन सब का भी यह तर्क करने का अधिकार है कि 'समाज में सभी स्वार्थी और चोर हैं तो हम से क्यों मांग की जाये कि हम दूध के धुले रहेंगे ?' निःसन्देह साधुओं में सब साधु नहीं हैं, पर सवाल यह है कि क्या आदर्श का, मूल्य का और उस की प्रतिष्ठा का कोई बोध हम में बचा है कि नहीं ? या कि मानवता भी न कोई मूल्य है, न विकास का कोई चरण, केवल एक पेशा है—विशेष दीक्षा प्राप्त पशु द्वारा अपनाया गया एक पेशा ?

क्या हमारा पूरा समाज फिर से कम-से-कम कुछ पेशों और सेवाओं में उस कारुण्य अथवा मानव-सेवा-भाव की प्रतिष्ठा करने को तैयार है, जिस के बिना मनुष्य मनुष्य नहीं है ?

साहित्यकार का सम्मान : किसलिए ?

एक विशिष्ट साहित्यिक के सम्मान के लिए आयोजित सम्मेलन मे मुख्य अभिभाषण का काम मुझे सौंपा गया था। अभिभाषण लिखने बैठ कर पहला वाक्य लिखा 'साहित्य के और साहित्यकार के सम्मान का कोई भी अवसर एक सुखद, गौरवमय अवसर होता है'। लेकिन एक ही वाक्य लिख लेने पर मन अटक गया। क्या ऐसे समारोह सचमुच साहित्यकार के (या साहित्य के भी) सम्मान के लिए होते हैं ? क्या आज के भारतीय समाज के मन मे साहित्यकार के प्रति सम्मान का भाव बचा भी है ? क्या यह पहचानना ही ईमानदारी न होगी कि आज हमारे समाज मे साहित्य अथवा साहित्यकार के प्रति सम्मान का भाव नही रहा है, और जिनमे था भी उन मे दिन-ब-दिन कमतर होता जा रहा है ? समारोह साहित्यकार के सम्मान के लिए नही होते; मेले के लिए होते हैं, प्रदर्शन के लिए होते है, सत्ता के साथ जुड़ने के लिए होते हैं, बड़े आदमियो को खुश करने के लिए होते हैं, कुतूहल शान्त करने के लिए होते हैं, खुद सम्मेलन मे अथवा मच पर दिखाई देने के लिए होते हैं। अर्थात् सभी कुछ के लिए होते हैं, लेकिन साहित्यकार के सम्मान के लिए नही होते। और यह बात शायद हिन्दी-क्षेत्र के बारे मे और भी अधिक सच है। दूसरे भाषा-क्षेत्रो मे अब भी साहित्यकार का सम्मान है, लेकिन हिन्दी-क्षेत्र म तो वह बिलकुल समाप्त हो गया जान पड़ता है···

मन एक बार अटक गया तो फिर अटका ही रहा और कुछ भटकता ही गया। बनारस, इलाहाबाद, दिल्ली के कई छोटे-छोटे अनुभव याद आये। प्रसाद, प्रेमचन्द, पन्त, और निराला का जीवन इन्ही शहरो से सम्बद्ध रहा, लेकिन आज इन शहरो के पढे-लिखे लोगो मे बहुत कम ऐसे होगे जो यह बता भी सकें कि इन महान् साहित्यकारो मे, जिन पर सभा-सम्मेलनो मे गर्व प्रकट करने का चलन है, कौन किस शहर मे कहाँ रहता रहा, कहाँ उन्होने कौन सी रचना की, आदि। बड़े-बूढ़ो की बात छोड दीजिए, जो व्यक्तिगत रूप से

भी उन के सम्पर्क मे आये हो; उस पढे-लिखे साधारण व्यक्ति की ही बात सामने रखिए जो साहित्य का पाठक माना जाता है और जिस से इस सम्बन्ध मे कुछ आशा रखनी चाहिए।

मैंने अभी जो नाम लिये वे तो उन साहित्यकारो के हैं जो हमारे युग मे रहे और निर्विवाद रूप से प्रथम कोटि मे रखे जाते हैं। उन के कुछ पहले के साहित्यकार ले लें, अथवा ऐसे साहित्यकार जिन्हें इस से कुछ कम दर्जा दिया जाता है, तो बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

दिल्ली की ही बात ले लें। आज़ादी के पहले यह शहर भले ही उर्दू का शहर माना जाता रहा हो, आज़ाद देश की राजधानी मे कई एक हिन्दी साहित्यकार लम्बे अरसे से रहते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो सच्चे अर्थ मे 'दिल्लीवाले' हैं और जिन की रचना पर भी दिल्ली की गहरी छाप है। क्या आपके जीवन मे कभी ऐसा मौका आया कि किसी ने आपको राह चलते रोक कर बताया हो 'यहाँ अमुक लेखक रहता है' या कि 'यहाँ पर अमुक लेखक ने अमुक रचना की थी, अथवा उसके जीवन की अमुक घटना घटी थी, और यह बता कर गर्व का अनुभव किया हो कि यह दिल्ली उस की दिल्ली है ?'

एक निजी अनुभव याद आया। दो वर्ष हुए एक सगोष्ठी के लिए शिमला जाना हुआ था। चार दिन के आयोजन के बीच एक दिन छुट्टी का था। आयोजन क्योकि सरकारी था इसलिए उस दिन मेरे लिए सैर की व्यवस्था कर दी गयी और मैं एक ऐसा सुन्दर स्थल देखने भेज दिया गया जो सौन्दर्य और सुविधा के कारण लोकप्रिय 'पिकनिक स्पॉट' भी था। मैं एक चक्कर काट कर लौटने के लिए पहाड से उतर रहा था तो ढाई-तीन सौ बालक-बालिकाओ की एक टोली ऊपर आती हुई मिली। बच्चे प्राय सभी मूलत हिन्दी-भाषी थे, यद्यपि जो भाषा बोल रहे थे उसे आप कोई भी नाम दे सकते हैं—शायद 'करौटा अग्रेजी का विद्यार्थी सस्करण' ही उस की सही व्याख्या होगी। लेकिन बात भाषा की नही है। मैं उन के पास से गुज़रता हुआ कुछ नीचे निकल गया। ज़रा पीछे से एक आवाज़ सुनाई पडी—'देखो, वह हैमिंग्वे जा रहा है' और इसके साथ एक दबी हुई लेकिन काफी व्यापक हँसी। कुछ ही आगे निकला हूँगा कि उसी दल के बच्चो का एक पिछड गया समूह बगल से गुज़रा, उस मे से भी किसी ने शरारत-भरे स्वर मे कहा, 'हैमिंग्वे।' और इस पर सब खिलखिला पडे। मैं भी उन की ओर मुड कर मुस्करा दिया तो वे खिसिया कर और तेज़ी से चढने लगे।

मैंने हैमिंग्वे को कभी प्रत्यक्ष नही देखा था, लेकिन उन की फोटो से किसी को कोई समानता दीखती है तो मुझे आश्चर्य नही होगा। अमेरिका मे भी दो-चार बार ऐसी बात सुनी थी। सानफ्रांसिस्को मे तो एक बार रात को

पैदल लौटते समय रास्ते मे एक नशे मे धुत व्यक्ति ने कन्धे पर जोर से 'धौल मार कर पूछा था, 'हलो, मिस्टर हैमिंग्वे, आप वहाँ से कब लौटे ?' —'वहाँ से' अर्थात् दूसरे लोक से, क्योंकि हैमिंग्वे को मरे तब दो वर्ष हो चुके थे।

लेकिन घटना याद आयी तो हैमिंग्वे की आकृति से किसी वास्तविक या कल्पित समानता के कारण नही, याद आयी तो इसलिए कि एक भारतीय स्कूल के मूलतः हिन्दी-भाषी बच्चे सभी हैमिंग्वे की आकृति से परिचित थे और उन मे से किसी ने भी एक भारतीय लेखक को नहीं पहचाना। (मैं जानता हूँ कि मैं इस घटना का उल्लेख करूँगा तो बहुत से लोगो की प्रतिक्रिया यही होगी कि मेरा अहं इस बात से आहत हुआ कि मुझे नही पहचाना गया, जो असल व्यथा की बात है उस की ओर उन का अपना ध्यान ही नही जायेगा या दूसरे का ध्यान वे जाने न देंगे!)

पहचान की इसी घटना के साथ जुड सकने वाली एक और घटना याद आयी। यह घटना उन दिनो की है जब पाकिस्तान से हमारा सीमा-युद्ध चल रहा था। दिल्ली मे ही शाम को मैं गाडी चलाता हुआ अकेला आ रहा था कि एक तग रास्ते मे दफ्तर से लौटती हुई एक साइकिल-सवार भीड से सामना हो गया। मैंने गाडी की चाल बहुत धीमी कर ली थी और फिर भीड अधिक देख कर गाडी बिलकुल रोक दी—हार्न बजाने से कोई लाभ होने वाला नही था। लेकिन भीड आगे नही निकली, लगभग दो सौ व्यक्तियो ने साइकिलो से उतर कर गाडी को घेर लिया और घृणा-भरे स्वरो से चिल्लाने लगे, 'पाकिस्तानी, पाकिस्तानी!' मैं चुप-चाप बैठा मुस्कराता रहा। तभी अचानक भीड मे पीछे से किसी ने मुझे पहचान लिया। वह चिल्लाया, 'अरे क्या कर रहे हो, यह तो अमुक है!' इस पर भीड धीरे धीरे खिसक गयी और मैं घर लौट आया।

मन और भटका। कुछ वर्ष पहले एक सरकारी विभाग से एक पत्र मेरे यहाँ पहुँचा जो श्री राहुल सांकृत्यायन के लिए था, जिन्हे दिवगत हुए तब कई वर्ष हो चुके थे। पत्र मे उनका नाम भी अशुद्ध लिखा था और मेरा भी, लेकिन पत्र मेरी मार्फत उन को भेजा गया था। यह तो मैं समझ गया कि पत्र मेरी मार्फत केवल इसलिए भेजा गया है कि हमारे नामों के रूप मिलते हैं और सरकार के लिए सांकृत्यायन, कौसल्यायन, मोद्गलायन, वात्स्यायन—सब एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। पत्र मैंने उन्ही अधिकारी को लौटा दिया जिन्होनें मेरी मार्फत भेजा था। इतना और लिख दिया कि मैं तो यह पत्र राहुल जी तक नही पहुँचा सकता, लेकिन अगर जरूरी हो तो एक ही उपाय हो सकता है कि वह अधिकारी महोदय स्वय पत्र ले कर वहाँ चले जायें

जहाँ राहुल जी होंगे। (कहने की जरूरत नहीं कि यह मजाक भी उन की समझ में नहीं आया होगा!)

एक याद और। इस बात पर विचार हो रहा था कि साहित्यकार के सम्मान का आयोजन हो तो उस का स्वरूप क्या होना चाहिए। मुझ से पूछा गया तो मैं ने यह राय दी कि मैं इसे न केवल जरूरी नहीं समझता बल्कि अनुचित भी समझता हूँ कि जिस साहित्यकार का सम्मान करना है उसे पहले से मंच पर बिठा दिया जाये और उसे उस की बिरादरी से काट दिया जाये—इस अवस्था में तो और भी अधिक जब मंच पर और साहित्यकार न बैठे हों बल्कि आयोजकों और राजपुरुषों का जमाव हो। सम्मान में साहित्यकार अपनी बिरादरी में ही बैठें, लेकिन सम्मान के लिए मंच से जा कर अभ्यर्थना-पूर्वक उसे ले जायें तो अधिक शोभन होगा। मेरे इस झुकाव पर दो एक व्यक्ति बिगड़ उठे। 'आप क्या समझते हैं (यहाँ उन्होंने तो नाम भी लिये, लेकिन मैं नाम हटा कर केवल पद नाम दे रहा हूँ) मंच से उतर कर राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री या उपराष्ट्रपति साहित्यकार को लिवाने आयेंगे?' मैंने हँस कर कहा, 'मैं यही बात आप से स्पष्ट कहलवाना चाहता था। आपकी समझ में ये ही लोग वास्तव में बड़े हैं और साहित्यकार के सम्मान में सम्मिलित हो कर आप की राय में वे साहित्यकार पर अनुग्रह कर रहे हैं। और यही बात साहित्यकार के पक्ष से मुझे असह्य है। कोई कारण नहीं है कि प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति आसन से उतर कर साहित्यकार को लिवा न ले जायें—और ऐसा भी नहीं है कि इस से उन की कोई हेठी हो जायेगी या वे छोटे हो जायेंगे। और आप आज चाहे जो सोचते हों, मेरा दृढ़ विश्वास है कि डा० राजेन्द्रप्रसाद को अथवा जवाहरलाल नेहरू को अथवा डा० राधाकृष्णन् को मेरे प्रस्ताव में कुछ भी अनुचित न लगा होगा, बल्कि वे पूरे मन से मेरी बात का अनुमोदन करते। अगर आज ऐसा नहीं है तो उस का कारण यही हो सकता है कि आज सत्ताधारी (वह चाहे एक निर्धारित अवधि के लिए ही पदासीन हो) अपने को साहित्यकार अथवा किसी भी कृतिकार अथवा स्रष्टा से ऊपर समझता है और उस के ऐसे समझने को पूरा समाज भी सही मानने लगा है।'

इसी सन्दर्भ में मैंने उन्हें अमेरिका का एक उदाहरण भी दिया जिस में कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट के सम्मान के आयोजन में उन्हें अभ्यर्थनापूर्वक मंच तक ले जाने वालों में तत्कालीन राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के अलावा पाँच और ऐसे व्यक्ति थे जो राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति रह चुके थे। लेकिन यह उदाहरण उन के गले नहीं उतरा।

साहित्यकार की गिरती या गिर चुकी प्रतिष्ठा के बारे में कई मत होंगे।

इस में शक नहीं कि स्वयं साहित्यकार की अपनी ज़िम्मेदारी का भी उल्लेख होगा—उस की महत्त्वाकांक्षा, उस की अहम्मन्यता, उस का ईर्ष्या-भाव और शासन-सत्ता के प्रति स्वयं उस का हीनत्व बोध—इन कारणों की उपेक्षा करना मेरा उद्देश्य नहीं है। जिस साहित्यकार में ये सब दोष हैं उस के बारे में तो यह सवाल उठेगा ही कि फिर उस का सम्मान करने हम क्यों जा रहे हैं? लेकिन जो सम्माननीय है, जिसे हम ने सम्मान के योग्य माना है, उसे भी हम किस पद पर रखते हैं? यानी सवाल किसी एक की नीयत के बारे में नहीं है, हमारी अर्थात् पूरे समाज की नीयत के बारे में है। हम क्या इतने से सन्तुष्ट हैं कि सत्ताधारी के कृपा-कटाक्ष को साहित्यकार की ओर प्रेरित कर दें और मानें कि साहित्यकार को इतने से ही अपने को कृतकृत्य मान लेना चाहिए? हमारी पूरी संस्कृति में रचनाकार और सर्जक का क्या स्थान है? ये प्रश्न पूछने के हैं और पूरे समाज को अपनी संस्कृति का नया मूल्यांकन इन सवालों के प्रकाश में करना चाहिए। मेरा तो दृढ विश्वास है कि जो समाज स्रष्टा का सम्मान नहीं करता वह घटिया समाज है और वह स्वयं अपनी उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाता है क्योंकि सर्जक के प्रति उदासीनता केवल साहित्य अथवा संगीत अथवा चित्रकला के प्रति उदासीनता की बात नहीं रह जाती—वह कल्पना और मौलिकता के प्रति उदासीनता है जो विज्ञान की प्रगति में भी उतनी ही बाधक होती है।

जिन उदाहरणों से मैंने बात आरम्भ की उन के मूल में जायें तो यह भी देखेंगे कि हमारा समाज समकालीन इतिहास के प्रति घोर उदासीन है, इतिहास को वह जल्दी-से-जल्दी पुराण में परिवर्तित कर देता है और उस के बाद तथ्य में उसे न दिलचस्पी रहती है, न तथ्य तक पहुँचने की सम्भावना वह बनी रहने देता है। साहित्यकार तो अलग, गान्धी, नेहरू और जयप्रकाश नारायण जैसे व्यक्ति भी इस प्रवृत्ति के शिकार हो गये हैं। उन के सम्बन्ध में पौराणिक किस्म की गाथाएँ सर्वत्र मिल जायेंगी, लेकिन तथ्यों की खोज करने चलें तो एक दुःसाध्य स्थिति सामने आ जायेगी। एक ही उदाहरण लीजिए। जयप्रकाश जी अगस्त '४२ के आन्दोलन के बाद जब जेल से फरार हो कर छिप रहे थे तब काफी समय दिल्ली में भी रहे थे। अब दिल्ली के नेताओं में भी और जयप्रकाश जी के सहयोगियों में भी कितने ऐसे हैं जो बता सकेंगे कि दिल्ली में किस घर में छिप कर वे रहे थे?

यों साहित्यकार के सम्मान के लिए लिखा जाने वाला मेरा अभिभाषण पहले ही वाक्य पर अटक गया। वह अभिभाषण मुझे लिखना है ज़रूर, लेकिन क्या मैं यह मान कर चल सकता हूँ कि हमारा समाज सचमुच साहित्यकार का सम्मान करता है, विशेष रूप से हिन्दी समाज? या कि मुझे अपने

वाक्य में 'गौरवमय अवसर होता है' को बदल कर 'गौरवमय अवसर होना चाहिए' कर लेना होगा ?

यह सवाल भी उठाया जा सकता है—उठाया जाना चाहिए—कि साहित्यकार का सम्मान होता है तो किस लिए होता है ? उसके गौरव की नाप सत्ता नहीं हो सकती यह तो स्पष्ट ही है। तब अगर उसके प्रभाव की बातें करें तो वह किस चीज़ का प्रभाव होता है ? और अगर आज सम्मान कम है तो क्या मान लें कि कारण यही है कि प्रभाव कम है ? और अगर प्रभाव कम है तो समाज के उत्तरदायित्व के अलावा स्वयं साहित्यकार कहाँ तक दोषी है ?

साहित्यकार भी दोषी है खासा बड़ा अपराध है उस का विशेष रूप से उन का जो आज साहित्य के मानदंड रचने का दावा करते हैं। अपराध यह है कि वह भूल गया है कि उस की प्रभाविता का आधार क्या होता है। आलोचक मनवाना चाहते हैं—और साहित्यकार मान लेता आ रहा है—कि प्रभाविता इस में है या होनी चाहिए कि साहित्य शासन का तख्ता पलटे, पलटने में योग दे, कि साहित्य सीधे सीधे क्रान्ति करे—पर उस क्रान्ति का नक्शा उसे बना बनाया दूसरे दें—उस दल के नेता जिस के हित में वह क्रान्ति करे ! यानी साहित्य की प्रभाविता इस में नहीं है कि वह सत्ता से अलग रहे या उस से मिलने वाली सहूलियतों से ऊपर रहे—इस में है कि वह किसी न किसी सत्ता के हित साधने में अपने को लगा दे—तख्ता पलट कर आने वाली उस दल की सत्ता का जिसके आलोचक उसे रास्ता दिखायेंगे, या फिर आलोचक अगर वर्तमान प्रतिष्ठित सत्ता के हैं तो साहित्यकार की प्रभाविता इस में होगी कि वह उसी सत्ता का समर्थन करे—उस के कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में योग दे।

इस प्रकार साहित्यकार को बताया जाता है—और वह मान लेता है—कि उसकी प्रभाविता किसी न किसी सत्ताधारी अथवा सत्ताकामी के साथ चलने में है, और यहाँ 'साथ चलना' पीछे चलना हो जाता है।

ऐसे में साहित्यकार का सम्मान हो ही नहीं सकता। ऐसा साहित्यकार सम्मान्य है भी नहीं। और जो समाज इसी आधार पर सम्मान बाँटता है उस के द्वारा दिये गए सम्मान का भी कोई मूल्य नहीं है—वह समाज ही दिग्भ्रष्ट है।

साहित्य का—किसी भी देश के साहित्य का—इतिहास उठा कर देख लीजिए। सम्मान उस साहित्यकार को मिला है और मिलता रहा है जिसने सच्चे जीवन मूल्यों को उभारा है और सामने रखा है, जिसने जब-जब ये मूल्य उपेक्षा की धूल में मैले हुए हैं तब तब उन्हें फिर चमका कर सामने रख दिया है। फिर समाज और सत्ता उस के काम से चौंके, या बिगड़े, या प्रसन्न

हो; उसे कोसे, या मारे, या जेल में डाले, उस के साहित्य को कुचले या जलाये या जब्त करे—या सस्ता छपा कर लाखों की संख्या में प्रसारित करे। यह नहीं कि साहित्यकार को सुख-दुःख नहीं होता, अपनी पुस्तकें पढ़ी जाने पर सन्तोष और तृप्ति या उपेक्षित होने पर खेद या आक्रोश नहीं होता, होता है। पर सत्साहित्यकार लिखता इस के लिए नहीं; इस सब के बावजूद लिखता है। लिखता है क्योंकि उसका सरोकार मानव जीवन की अर्थवत्ता से है, और यह अर्थवत्ता उसे उन जीवन-मूल्यों में मिलती है जो उस में दिये जाते हैं या दिये जाने चाहिए।

मेरा पहला ही वाक्य-रूप ठीक था साहित्यकार के सम्मान का अवसर गौरवमय अवसर होता है। एक बार हम 'साहित्यकार' 'सम्मान' और 'गौरव' की सही परिभाषा कर लें तब

हमारे समाज में नारी

कहते हैं कि अखबार का एक नशा होता है। पिछले दो-तीन वर्षों मे जब
अखबार के बारे में सोचता हूँ तो जान पड़ता है कि वह नशा न होकर
क प्रकार की खाज होती है। खुजलाने से पीड़ा होती है और खुजलाये बिना
हा भी नहीं जाता। ससार मे क्या हो रहा है इस के बारे मे कुछ जानकारी
चाहना तो स्वाभाविक है, लेकिन अखबार म जो मिलता है वह अधिकतर
नयी जानकारी न हो कर जो हम जानते हैं—मसलन् अपने ही देश की राज-
नीति की अवस्था—उसी की नयी-से-नयी दु खद विकृतियाँ सामने आती है।

पिछले कुछ महीनो से एक और भी ग्लानिजनक बात सामने आयी है।
कोई दिन ऐसा नहीं जाता जिस दिन अखबार म बलात्कार की, स्त्रियों के
अपमान की और उन पर अत्याचार की खबरें न हों। इस तरह की घटनाएं
सख्या मे इतनी अधिक, प्रसार की दृष्टि से इतनी दूर-दूर तक फैली हुई और
इतनी व्यापक हो गयी है कि हमें ग्लानि, क्षोभ और गुस्से के अलावा अपने
पूरे समाज के बारे में चिन्ता भी होनी चाहिए और पूरे समाज की मनोवृत्ति
के बारे मे बहुत से सवाल भी हमारे मन मे उठने चाहिए। लेकिन इस के
लक्षण लगभग नहीं दीखते हैं। कुछ लोग जी की भड़ास निकाल लेते हैं अवश्य
और इसके लिए राजनैतिक सगठन ने एक बड़े आराम की व्यवस्था भी कर दी
है ससद मे जाकर न केवल लीडर का गम' 'आराम के साथ' अभिव्यक्ति पा
लेता है बल्कि उन लोगो को भी तसल्ली हो जाती है जिन्होंने चुन-चुन कर
ऐसे लीडर वहाँ भेजे थे। जन-प्रतिनिधि अपनी बहु चुके तो मान लिया गया
कि जन की बात भी कही जा चुकी और अखबारों न ससद का ब्योरा छाप
दिया तो राष्ट्रीय स्तर के महत्वपूर्ण समाचार छापने का कर्तव्य भी पूरा हो
गया है। और अगर बहस की रपट के बाद के पत्र भी लिख गये कि सदन
म गरमागरमी के बाद बहस का अन्त बड़े विनोदपूर्ण वातावरण मे हुआ' तो
सब को यह सोच कर अपनी पीठ ठोकने का मौका भी मिलेगा कि हमारा

समाज कैसा सभ्य और शिष्ट समाज है कि हर गम्भीर बहस का अन्त चुहल-बाजी मे हो जाता है।

बलात्कार की ये दिन-ब-दिन बढती जाने वाली घटनाएँ क्या चुहलबाजी का विषय हैं या होनी चाहिए ? लेकिन अखबारो को गहराई मे जाने की फुरसत नही है क्योकि सतह पर ही इतना कुछ घटित हो रहा है—रोज नये समाचार आ जाते हैं लेकिन ससद ? वहाँ भी मानो लोगो को इस बात की चिन्ता ही अधिक है कि इन अपराधो के लिए जिम्मेदार किस दल को ठहराया जा सकता है। न अपराधो के निवारण की चिन्ता है, न अपराधी को दड देने की, न उस समाज को बदलने की जिस मे ये अपराध पनपते हैं चिन्ता है केवल आरोप और प्रत्यारोप की और उस के बाद थोडी-सी इस बात की कि वातावरण बहुत अधिक कटु न हो जाय—क्योकि विभिन्न दल एक दूसरे को गालियाँ देते रहें, फिर भी रहना तो सब को साथ ही है ! जब सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं तब आपस मे टकराते रह कर भी उन्हे यह भी तो ध्यान रखना है कि वही थैली ही न फट जाये !

क्या ये बलात्कार की घटनाएँ केवल कानून और व्यवस्था की समस्या हैं, जैसा कि कुछ लोगो का कहना है ? और क्या यह अव्यवस्था और प्रशासनिक ढिलाई वर्तमान सरकार की अयोग्यता, असमर्थता या दुष्टता के कारण है ? या कि इस से पहले की सरकार अथवा सरकारो की दुर्बलता, दुष्टता और ढिलाई के कारण पैदा हुई ! या कि बात को इसी स्तर के आरोप प्रत्यारोप तक सीमित रखना असल समस्या से कतरा जाना ही है ?

या कि बलात्कार की ये घटनाएँ उस व्यापकतर हिंसा का एक पहलू हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था मे बढते हुए वर्ग-सघर्ष के कारण पैदा होगी ही ? यानी जो वास्तव मे केवल सघर्ष के लक्षण हैं—ऐसे सघर्ष के जो दु खद होकर भी अनिवार्य है ?

या कि यह नारी की आजादी के आन्दोलन का ही एक प्रतिक्रियात्मक पहलू है कि नारी या तो जरूरत से ज्यादा आजाद हो कर अपने को जोखम मे डालती है जिस से उसे समाज ने पहले बचा कर रखा था ? या कि इस बिगडती हुई आजादी को निरकुशता मान कर पुरुष-समाज नारी को फिर वश मे रखने के लिए आक्रामक रुख अपना रहा है ?

या कि क्या यह सब पारस्परिक मूल्यो के ह्रास का परिणाम है—समाज उच्छृखल और अनाचारी हो गया है और युवक वर्ग उद्दड हो गया है और उस की उत्तेजित काम वासनाएँ इन घटनाओ के लिए जिम्मेदार हैं।

या कि क्या आधुनिक सभ्यता की, या पश्चिमी सभ्यता की, यौनाचार सम्बन्धी उदासीनता इस का कारण है—और अनर्गल यौनाचार को प्रोत्साहन देने वाले सिनेमा, विज्ञापन, पोस्टर, अश्लील पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं इत्यादि ?

या कि—ऐसा भी कुछ लोगों का मत है—वास्तव में ऐसी प्रवृत्तियाँ बढ़ी नहीं हैं, केवल अखबारों की पहुँच बढ़ जाने से उन की चर्चा अधिक होने लगी है ? कि भारतीय समाज में हिंसा और बलात्कार और नारी के प्रति अवज्ञा का भाव हमेशा से रहा है—"आप रामायण, महाभारत और पुराण भी देख लीजिए, कामसूत्र और कौटिल्य का अर्थशास्त्र तो है ही, फिर खजुराहो और कोणार्क के मन्दिर भी देख लीजिए" · 'भारतीय समाज में तो हमेशा से यौन-आचरण के बारे में काफी उदारता रही है', 'भारतीय समाज में तो नारी का दर्जा हमेशा नीचा रहा है'। 'भारतीय मानस तो हमेशा यौन-कुंठाओं से आक्रान्त रहा है।'...

इस तर्क-परम्परा के बाद आप अपने पहले से पोसे हुए किसी भी पूर्वग्रह तक लौट आ सकते हैं कि भारतीय समाज पतित है, कि हिन्दू-समाज पतित है, कि हमारा समाज सामन्तवादी समाज है, कि आधुनिक हुए बिना नारी की रक्षा नहीं है, कि पश्चिम की आधुनिकता ही सब बुराइयों की जड़ है, कि ये बलात्कार धनिक वर्ग द्वारा निर्धन स्त्रियों पर किये जाते हैं, कि यह ऊँची जातियों का छोटी जातियों पर परम्परा से चला आता अत्याचार है, या कि असल में यह उद्धत छोटी जातियों को सबक सिखाया जा रहा है, या कि यह सारा अत्याचार पुलिस की मनमानी ही है या पुलिस की शह से ही होता है। अपने पूर्वग्रह पर लौट कर फिर आप चाहें तो अपने दल का समर्थन कर लीजिए, और चाहें तो सभी दलों को बुरा कह कर अपनी राजनैतिक अथवा नागरिक जिम्मेदारी से मुक्ति पा लीजिए।

कुछ लोग बड़ी-से-बड़ी दंड-व्यवस्था चाहते हैं। कुछ लोगों ने बलात्कारी को फाँसी देने का भी सुझाव दिया है और कुछ लोगों ने यह भी सुझाया दिया है कि खुलेआम फाँसी की व्यवस्था होनी चाहिए जिस से कि सब अपराधी को दंड पाते देख कर उस से शिक्षा ग्रहण कर सकें।

यह कहना सही नहीं होगा कि रोग के जो निदान बताये जाते हैं उन में से किसी का कोई आधार नहीं है। बल्कि यह मानना होगा कि प्रत्येक के पीछे कुछ सत्य है। लेकिन यह मानना और भी कठिन होगा कि जो उपाय सुझाये गये हैं उन में से कोई भी काफी है या निश्चित रूप से सफल होगा। अन्तिम उपाय से ही शुरू कीजिए : फाँसी या कोड़े की सार्वजनिक सजा। पहले तो

उस से आतंक जरूर फैल सकता है और आज की शासन-व्यवस्था मे प्रशासनिक आतंक की उपयोगिता तो है ही। लेकिन आतंक जरूरी तौर पर प्रतिहिंसा जगाता है यह भी जानी हुई बात है। जरा-सा भी अनवधान हुआ नही कि इस प्रतिहिंसा के कारण बलात्कार की घटनाएँ बढी नही! फिर यह भी लक्ष्य है कि ऐसे सब सुझाव दंड-व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी उसी संगठन पर डालते है जिस के अपने अत्याचारो के समाचार रोज मिल रहे हैं। सर्वत्र यह दीख रहा है कि पुलिस भी अत्याचार कर रही है क्योकि उसे दंड देने वाला कोई नही है—वही तो स्वयं 'दंड-व्यवस्था' है!

लक्ष्य करने की बात इतनी ही नही है कि पुलिस के अधिकार बढाना जो रोज अपराधी के रूप मे सामने आ रही है एक आत्मघाती अन्तर्विरोध है। लक्ष्य करने की बात यह भी है कि सब लोग कुछ करने की जिम्मेदारी किसी-न-किसी दूसरे वर्ग या संगठन पर डाल रहे हैं। जैसे सभी राजनैतिक दल अपना सारा जोर इस बात पर लगा रहे हैं कि दूसरे को अपराधी सिद्ध कर दिया जाये, वैसे ही सभी दल ही नहीं, लोकमत के सामाजिक नेता भी सारी जिम्मेदारी किसी-न-किसी पर डाल कर स्वयं अपने लिए कर्म-मुक्ति का रास्ता निकाल लेना चाहते हैं।

और वास्तव मे यह कतराना ही आज की जघन्य और अन्यायपूर्ण स्थिति का एक बुनियादी कारण है। हम आज तक एक ग़ैरजिम्मेदार समाज मे जी रहे हैं। इस मे कोई भी अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करने, आगे बढ कर अपना कर्तव्य स्वयं ओढने और उस के परिणाम स्वयं भोगने को तैयार नही है।

: २

कोई हर्ज नही होगा अगर हम एक बार एक गहरी नजर समाज पर डालें। यह ठीक है कि उस से तुरन्त कोई उपाय नही निकल आयेगा, न ये अपराध तुरन्त बन्द हो जायेंगे, लेकिन एक रोगी समाज की ओर देख कर जब तक हम यह पहचानेंगे नही कि रोग पूरे समाज-शरीर मे फैला हुआ है तब तक कोई भी इलाज कारगर होने वाला नही है।

तात्कालिक उपाय केवल आत्म प्रवचना सिद्ध होगे।

यह रोज की घटना है, और कोई भी पाठक ऐसा नही हो सकता जो इस से अच्छी तरह परिचित न हो शहर मे, गाँव मे, कस्बे मे, गली मे, कही भी दो आदमियो मे कहा-सुनी होती है और दो मिनट बाद दोनो एक-दूसरे को माँ-बहिन की गालियाँ देने लगते है। गुस्सा एक दूसरे पर है और निकाला जा

रहा है उन निरीह माँ-बहिनों पर जो न वहाँ मौजूद हैं, न जिन्हें झगड़े का कुछ पता है, उस में भागी होना तो दूर की बात। और जिन के बारे में झगड़ा करने वालों को, हो सकता है, इतना भी पता न हो कि वे दुनिया में हैं भी या नहीं।

यह आम प्रवृत्ति उसी समाज में हो सकती है जिस में सिद्धान्त के रूप में नारी मात्र को 'पूज्य' माना जाता है और हर स्त्री को माँ, बहिन, बेटी का पद दिया जाता है। क्योंकि थोथी सैद्धान्तिक शिक्षा पूजा की है, इसलिए मन में बसी हुई हिंसा जहाँ भी प्रकट होती है इस पूजा-भाव के प्रति विद्रोह का रूप लेती है। जिसे एक पक्ष समझता है कि मुझे मार पड़े उस में मेरा अपमान नहीं है लेकिन मेरे परिवार की स्त्री के कल्पित अपमान में भी मेरा अपमान है, उसी तरह दूसरा पक्ष भी यह समझता है कि मैं इस मारूं तो मेरी हिंसा-भावना को उतना सन्तोष नहीं मिलेगा जितना इस के परिवार की स्त्रियों को अपमानित कर के।

कम-से-कम आठ-नौ सौ वर्षों में हमारे समाज में यही मानसिकता पनपती आयी है। हम ऐसा मानने के आदी हो गये हैं, और पश्चिमी शिक्षा ने भी हमें यह सिखाया है, और आज का पढ़े-लिखों का नारी-आन्दोलन भी ऐसा समझने लगा है– (और नयी राजनैतिक शिक्षा भी नारी के प्रति पूरे समाज के अत्याचार को केवल आर्थिक शोषण के साथ जोड़ कर और भ्रम पैदा करती है)—कि इस देश में नारी हमेशा से दलित, शोषित और उत्पीड़ित थी। यह बात बिलकुल झूठ है और प्राचीन साहित्य का अथवा प्राचीन इतिहास का थोड़ा सा भी ज्ञान इस झूठ को स्पष्ट कर देगा। वास्तव में समाज में स्त्री की अवनति प्राचीन काल अथवा प्राचीन जाति-संगठन की विशेषता नहीं रही, बल्कि सर्वत्र मध्यवर्ग के उदय के साथ जुड़ी रही है। जात-पांत की भावनाओं ने भी इस के बाद ही वह जड़ित और शिथिल रूप लिया है जो आज हम देख रहे हैं। तभी एक आदमी और दूसरे आदमी का वैर पहले और दूसरे के जाति-गत वैर का रूप ले लेता है, और यह जातिगत वैर फिर एक-दूसरे की जाति की स्त्रियों पर ही प्रगट होता है। एक जाट और बनिये की लड़ाई होती है, बदले के लिए जाट समाज के कुछ गुंडे किसी बनिया परिवार की कोई लड़की उड़ा ले जाते हैं और उस पर अत्याचार होता है तो पूरा जाट समाज प्रतिशोध की तृप्ति का अनुभव करता है, यद्यपि उस बेचारी का मूल झगड़े से कोई सरोकार नहीं था। फिर पूरा बनिया समाज अपने को अपमानित मान कर इसी ढंग के बदले की व्यवस्था करता है चाहे उस के लिए उसे भी किराये के गुंडे ही क्यों न लाने पड़ें। जो लड़कियाँ अत्याचार का पहला शिकार थीं न उन की ओर किसी का ध्यान जाता है, न अत्याचारों की

शृखला मे उसी प्रकार धर्षित होने वाली दूसरी निरीह लड़कियो की ओर। जाट और बनिये का नाम तो उदाहरण के लिए लिया गया; बनिया अहीर, ठाकुर-हरिजन, कायथ-कोथरी, बाम्हन-खत्री—कोई भी जोड मिलाये जा सकते हैं। मूल मनोभाव वही है कि गुस्सा चाहे किसी पर हो, नज़ला गिरेगा तो स्त्री पर।

नये युवा वर्ग मे यही मूल मनोभाव और भी विकृत रूप लेता है। जब परम्परा नारी के प्रति सम्मान भाव की है, तो 'परम्परा के प्रति विद्रोह' नारी के अपमान के रूप मे प्रगट होता है। तब छेड छाड से ले कर बलात्कार तक सब को जघन्य अपराध न समझ कर केवल विद्रोह का एक रूप समझा जाने लगा है, बहादुरी माना जाता है। इस तरह की विकृत बुद्धि वाले युवा समाज मे बलात्कारी के प्रति बहुधा एक प्रशसा अथवा ईर्ष्या का भाव देखा जायेगा।

पश्चिमी समाज मे नारी के प्रति ऐसा भाव न था न है, इसलिए वहाँ न इस तरह की गालियो का चलन मिलेगा, न विद्रोह की विकृतियाँ नारी पर अत्याचार के रूप मे प्रगट होगी। वहाँ बच्चे की शिक्षा मे सब से अधिक जोर *नारी के प्रति सम्मान पर नही, उस चीज़ पर दिया जाता है जिसे सभ्य भाषा* मे **'टॉयलेट ट्रेनिंग'** कहा जाता है। उचित और अनुचित, अनुचित और निषिद्ध के मामले मे सब से अधिक कडाई सफाई और पाखाना-पेशाब के नियमो को ले कर होती है। इसलिए वहाँ माता-पिता के विरुद्ध बच्चो का, अर्थात् समाज के प्रति युवक का, विद्रोह इन्ही नियमो के विरुद्ध हो जाता है। भारतीय समाज-व्यवहार मे माँ-बहिन की गालियो का जो स्थान है, पश्चिम के व्यवहार और मुहावरे मे वही स्थान गू और मूत सम्बन्धी गालियो और फिकरो का है। और पश्चिम के युवा विद्रोह के 'हीरो' की विकृति इसी रूप मे प्रगट होती है कि उस का सारा मुहावरा विष्ठा के भार से लदा होता है। पश्चिम का अन्धा अनुकरण करने वाले अंग्रेजी पढे भारतीय समाज के युवा वर्ग मे भी ठीक यही बात देखी जा सकती है।

३

जाति-विद्रोह और 'पीढी द्रोह' की ये रूढियाँ उस हिंसा-भाव से जुड जाती हैं जो आधुनिक समाज का एक लक्षण है, बल्कि समाज की आधुनिकता का, दिन-ब-दिन तीखा होता हुआ, शायद वह देख सकता, लेकिन इतनी फुरसत उस को कहाँ है ? और जब सहानुभूति यन्त्र-उद्योग पर आधारित समाज मे हिंसा का बढना अभी तक स्वाभाविक और अनिवार्य है क्योकि यन्त्र उद्योग की हर

वृद्धि हिंसा के सहारे होती है। औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण का संसार-व्यापी अभियान हिंसा के साथ जुड़ा हुआ है और हिंसा के सहारे ही आगे बढ़ रहा है—प्रकृति के प्रति हिंसा और प्रकृति के साथ बलात्कार, वातावरण के प्रति हिंसा और उस के साथ बलात्कार, ऊर्जा के सभी साधनों के प्रति हिंसा और उन के साथ बलात्कार। यह संसारव्यापी अन्धी हिंसा कम विकसित देशों में और भी विकृत रूप लेती है, क्योंकि उन में इसे समझ कर भी इस का सामना करने का सामर्थ्य कमतर होता है और साथ ही यह प्रवृत्ति उन देशों के समाज-संगठन को स्थायित्व देने वाली मूल्य-व्यवस्था को बड़ी तेजी से उखाड़ फेंकती है।

भारतीय समाज इस व्यापक प्रवृत्ति से बचा नहीं है। टेक्नालोजी, यन्त्रीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, अंग्रेज़ीकरण, सब को पर्यायवाची मान कर फिर इन के साथ परम्परा के प्रति द्वेष-भाव और मूल्य दृष्टियों के प्रति अवज्ञा भाव को भी जोड़ दिया गया है। लगभग यह स्थिति हो गयी है कि अगर आप में किसी तरह का भी कोई मूल्य-बोध बाकी है तो आप न आधुनिक हैं, न वैज्ञानिक हैं, न सभ्य हैं—केवल एक पुराने खूसट हैं जिसे अवज्ञापूर्वक जितनी जल्दी रास्ते से हटा दिया जाय उतना ही अच्छा।

भारत में आज गाँव से शहर की ओर आने की प्रक्रिया एक अनिवार्यता के साथ चल रही है। गाँव का समाज भी हिंसामुक्त हो ऐसा तो नहीं है, लेकिन गाँव से शहर की ओर आते हुए किशोर-वय देहातों के साथ चलते हुए आप देखते जाइये कि कैसे उस में किसी भी तरह का मूल्य-बोध धीरे धीरे मिटता जाता है और एक अन्धा हिंस्र-भाव उस का स्थान लेता जाता है; और फिर कैसे यह अराजक हिंस्र-भाव ही धीरे-धीरे एक मूल्य में परिणत होता जाता है। फिर गाँव को छोड़ कर निकला हुआ किशोर कभी गाँव तो लौटता नहीं, जब अनुभव-परिपक्व प्रौढ़ व्यक्ति हो कर कभी कुछ दिन के लिए लौटता भी है तो अपने भीतर संचित हिंसा की छूत वहाँ और फैलाने के लिए। वह खुद क्यों कि कुछ ही दिन रह कर गाँव से फिर कस्बे या शहर की ओर लौट जाने वाला है इसलिए इस छूत से फैलने वाली हिंसा या प्रतिहिंसा की कोई ज़िम्मेदारी उस के ऊपर तो आती नहीं, उस के परिणाम जिन को भुगतने हैं वे ही भुगतेंगे। उन को थोड़ी सहानुभूति शायद वह दे सकता, लेकिन इसकी फ़ुरसत उसको कहाँ है? और जब सहानुभूति की फुरसत नहीं होती, तब उस सम्भाव्य सहानुभूति की ऊर्जा भी पहले से पनपते हुए हिंसा भाव में जा मिलती है—हिंसा भाव थोड़ा और उग्र हो जाता है।

इस समाज मे हम जीते है, इस मे रोज़ अखबार पढते है, इस मे रोज़ स्त्रियो पर बलात्कार की दारुण से दारुणतर खबरें छपती है। रोज़ सवेरे हम उन्हे पढते है और चेतना पर छायी हुई हिंसा को थोडा और बल मिल जाता है।

फिर ? फिर हमारे समाज मे बहुत से लोग दिन-भर माँ-बहिन की नयी-पुरानी गालियाँ देते हुए जी की भडास निकाल रहे है और रात को वैसी ही गालियाँ अपने को भी देते हुए घर लौट आते हैं।

क्या ऐसे समाज मे बलात्कार की बढती हुई प्रवृत्ति को रोकने का कोई उपाय है ? प्रश्न का आशय यह नही है कि कोई उपाय नही है, आशय यही है कि जब तक हम मूल्यहीनता के साथ बँधे हुए हिंसा भाव को नहीं देखते, जब तक विद्रोह के विकृत चित्र का सुधार नहीं करते, तब तक क्या पुलिस, क्या सरकार या सेना या ससद कोई इलाज कर सकता है ? क्या कोई भी सगठन या सस्थान, जो खुद इसी समाजव्यापी मूल्यहीनता की परिस्थिति की उपज है, बिना उस मूल समस्या का सामना किये हुए कोई उपाय कर सकता है ? नही कर सकता।

हम पुलिस के भरोसे रहे है—उस का परिणाम आज हम देख ही रहे हैं कि बलात्कार की घटनाओ मे उतनी ही बार पुलिस वाले भी अपराधी होते हैं जितना कोई दूसरा—यह अलग बात है कि वे दडित न होते हो। फिर हम सरकार के भरोसे रहे हैं। उस का दिमाग कैसे चलता है यह बागपत वाली घटना से देखा जा सकता है। 'मोटरगाडी मे क्योकि कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो अपराधी है, इसलिए यह सवाल ही क्यो उठाया जाये कि मोटर से निकाल कर एक स्त्री का अपमान पुलिस द्वारा किया गया या नही !' अब हम ससद की ओर देख रहे है। वहाँ भी हँसी-मजाक मे बात टाली तो जाने ही लगी है। और आगे क्या होगा ?

जिस रोगी समाज से ये सगठन और व्यवस्थाएँ निकल रही है, आखिर उसी का प्रतिनिधित्व तो ये करेंगी—फिर जब प्रतिनिधित्व करने के लिए ही उन्हें चुना गया है !

मूल्यो की समस्या उठाये बिना केवल अपराधो की चर्चा करना अपने आप मे अपराध है ! जिस समाज मे कोई ऐसे मूल्य नही है जिन के लिए जिया जाता है और जिन के लिए मरा भी जा सकता है, वह समाज अपने मन के साथ बलात्कार की स्थिति को स्वीकार कर चुका है, अपना मन ही बलात्कारी को सौंप चुका है। समाज को पुलिस या सरकार या ससद नही बचाती, समाज की अपनी शक्ति बचाती है जो उन मूल्यो से मिलती है जिन के लिए वह जीता है। क्या हमारा समाज अपना सामना करेगा ?

मूल्यो के ही सन्दर्भ म एक बात और सामने आनी चाहिए। कहा जा सकता है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते म तो एक मूल्य निहित है। और जब स्त्री मात्र को माँ-बहिन का पद दिया जाता है तब उस का आधार भी तो एक मूल्य दृष्टि होती है। निश्चय ही वैसा होता है। लेकिन वे मूल्य आज सार्थक नही रह गये हैं। जिन छोटी बिरादरियो म समाज का हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति को जानता था, उन म इस रिश्ते का महत्व था, और तब उस मे आचरण को नियत्रित करने वाला एक बल भी होता था। 'गाँव का रिश्ता उस समाज म सार्थक था जिस म मानसिकता भी गाँव की थी—जो गाँव की मूल्य दृष्टि को एक नियामक महत्व देती थी और उसे जाति के विचार से ऊपर मानती थी—यानी छोटी जाति की स्त्री भी केवल नारी होने के नाते अपनी माँ-बहिन, बहू बेटी हो जाती थी। आज यह पहचान अनिवार्य हो गयी है कि स्त्री को माँ, बहिन, बहू, बेटी इत्यादि ही मानना, वास्तव म उस के निजी स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नकारना है। स्त्री को हमेशा रिश्ते के किसी पुरुष के माध्यम से देखना समाज को पुरुष सचालित मानने का ही एक विस्तार है। स्त्री अपने आप म कुछ नही है—उस का अपना व्यक्तित्व कुछ नही है, उस के लिए केवल कर्मों और कर्तव्यो का एक समूह है, एक 'रोल' है जो इस दृष्टि से निर्धारित होता है। और क्योकि इस तरह पुरुष-समाज बडी आसानी से नारी के व्यक्तित्व की सत्ता को ही नकार जाता है इसलिए आज उस कथित पूजा भाव का भी कोई अर्थ नही रहता। जिस समाज मे नारी को व्यक्तित्व ही नही दिया जाता उस म नारी की पूजा भी नहीं होती, न हो सकती है उस मे इस पूजा का अर्थ 'स्वार्थ पूजा या पेट पूजा' वाली पूजा से अधिक कुछ नहीं रहता। सच्चे अर्थ म पूज्य वही स्त्री हो सकती है जिस के व्यक्तित्व को समाज ने एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे स्वीकार किया है। इसीलिए समाज के लिए अपना सामना करने की और अपने मूल्यो को चुनौती देने की बात उठती है। जो समाज स्त्री को एक स्वत प्रमाण व्यक्तित्व देने को तैयार नही है उस समाज मे स्त्री का सम्मान नही होगा। बलात्कार की जड इस मानसिकता म है जिस समाज की मानसिकता यह हो, उस म मानना चाहिए, नारी का घर्षण अनुक्षण हो रहा है।

संस्कृति बनाम इतिहास : कला की समस्या

आज जिस दुनिया से हम गुजर रहे हैं उस मे अंग्रेजी पढे-लिखे—और 'पढे-लिखे' लोग अधिकतर अंग्रेज़ी पढे-लिखे लोग ही हैं !—यह मान कर चलते हैं कि संस्कृति का आज कुछ मतलब नही है, आज ऐतिहासिकता का युग है और इस मे संस्कृति की बात करना अप्रासंगिक है, प्रगति विरोधी है, कठमुल्लापन है। सब पढे-लिखे बात को यो साफ-साफ नही भी कहेंगे लेकिन 'संस्कृति' का *नाम लेते ही उन के स्वर मे जो सूक्ष्म परिवर्तन आ जायेगा उस के मूल मे यही* धारणा होगी।

देश के कुछ विश्वविद्यालयो मे तथाकथित संस्कृति के विभाग हैं लेकिन यह लक्षणीय है कि जहां भी संस्कृति को एक विषय माना गया है वहाँ उसे प्राचीन इतिहास के साथ और आनुषंगिक रूप म ही रखा गया है। ऐसे विभाग 'प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति' के विभाग होते हैं। इस गठबन्धन से वह पूर्वग्रह और भी पुष्ट हो जाता है- संस्कृति अर्थात् प्राचीन ऐतिहासिक मूल्य और मान्यताएँ जिन का आधुनिक जीवन और प्रगतिशील चिन्तन से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है !···

यो तो सरकारी क्षेत्रो मे संस्कृति की जो गति हुई है वह भी इस पूर्वग्रह के प्रभाव का एक पहलू है। देश आजाद हुआ तो एक मत्रालय को नाम दिया गया *'शिक्षा और संस्कृति'* अथवा *'शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति'*, लेकिन फिर संस्कृति इधर-उधर धक्के खाती रही और उस का स्थान कभी कभी खेल-कूद और कभी शरीर विज्ञान लेता रहा। संस्कृति के कुछ अवशेष शिक्षा मत्रालय मे बचे तो उन का भी विभाजन कर के मुख्य अश विदेश-मत्रालय के जिम्मे कर दिया गया (एक्सटर्नल कल्चर जिसे शायद एक्सपोर्ट कल्चर भी कहा जा सकता है !) और अलाश शिक्षा के साथ जुडा रहा—जो आज साहित्य, चित्र-

कला, संगीत, नाटय, रंगमंच से सम्बद्ध अकादमियों की निगरानी करता है। पर सरकार का उल्लेख हमारा मुख्य विषय नहीं है : मुख्यतया हम इतिहास और संस्कृति के सम्बन्धों और उन की अवधारणाओं की ही बात करना चाहते हैं।

विदेशी अध्येता प्रायः कहता था कि भारतीयों में इतिहास-बोध नहीं होता और इतिहास को महत्त्व देने वाली मानसिकता पश्चिम की विशेष देन है। और हमारी पश्चिमी शिक्षा क्योंकि मुख्यतया तोतारटन्त विद्या थी इसलिए हमारे शिक्षाशास्त्रियों में आज भी बहुत से इस बात को मानते हैं। यों ऐसा नहीं है कि इस बात का कोई आधार नहीं है या कि पश्चिमी विद्वान् केवल एक पूर्वग्रह प्रकट कर रहा था। लेकिन आधार क्या था, बात किस सन्दर्भ में सच अथवा उपयोगी है, यह हमें समझाना उस का काम नहीं था, यह समझना हमारा अपना काम था जो हम ने नहीं किया। (हम अपना काम करने योग्य हों, यह सिखाने की जिम्मेदारी भी पश्चिम की नहीं थी, हमारी थी।)

वास्तव में पश्चिम के इस आरोप अथवा मूल्यांकन का सही अभिप्राय क्या है यह ठीक-ठीक समझने के लिए हम उसी तरह का एक प्रत्यारोप पश्चिम पर लगा सकते हैं यह भी उतना ही सत्य अथवा पूर्वग्रह-दूषित होगा जितना पश्चिम का फतवा अगर हम उसे सही सन्दर्भ में न रखें अथवा उस के आधार पर इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध का पुनर्विचार न करें। हम कह सकते हैं कि 'आधुनिक पश्चिम में संस्कृति बोध नहीं है'। यदि इस का अर्थ यह लगाया जायेगा कि इतिहास और संस्कृति दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं और एक की उपस्थिति दूसरे के बहिष्कार द्वारा ही सिद्ध होती है तो यह परिणाम भी उतना ही गलत होगा जितना यह परिणाम जो पश्चिम की सूक्ति से निकाला जाता रहा है।

यह ठीक है कि ऐसे विषयों की चर्चा सिर्फ भाववाचक संज्ञाओं के स्तर पर बहुत अधिक फलप्रद नहीं होती—कम से-कम शास्त्रीय चर्चा के बाहर उस का उपयोग नहीं रहता। अच्छा होगा कि हम भी व्यवहार-पक्ष से ही उन का विचार करें।

आप भारतीय पारम्परिक चित्रकला को लीजिए। पारम्परिक भारतीय चित्रकार में इतिहास-बोध नहीं था। चित्रकारों में तो बहुत से ऐसे भी थे जो आज की परिभाषा में कलाकार न हो कर कारीगर अथवा शिल्पी थे और जिन की शास्त्रीय शिक्षा न के बराबर थी। लेकिन इतिहास-बोध न रहते भी ये चित्रकार अपने चित्रों में करते क्या थे ? आप पहाड़ी अथवा राजपूत कलम के चित्र देखिये। चित्रकार बना तो रहा है रामायण, महाभारत और भागवत के चित्र, लेकिन रामायण के युद्ध में सैनिकों की पोशाक लगभग वही

है जो चित्रकारो के समकालीन भारतीय सैनिक की होती थी—घुटन्ने या कही-कही तग पाजामे भी, बडी, कसा हुआ फेंटा, पगडी अथवा सिली हुई टोपी" या युद्ध महाभारत का है और उस मे सेनाओ के बीच कही-कही आप को दीख जायेगी एक आध फिरगी टोपी ! बन्दूक अथवा छोटी तोप का भी चित्रित होना कोई आश्चर्य का विषय नही है।

नि सन्देह इस से कई तरह के परिणाम निकाले जा सकते है। एक तो यही कि उस बेचारे चित्रकार मे इतना भी ऐतिहासिक बोध नही था कि रामायण-महाभारत कालीन सैनिक को उत्तर-मध्य काल की वर्दिया न पहनाये, उत्तर-मध्य काल के अथवा योरोपीय सम्पर्क के बाद के हथियार न दे, प्राचीन व्यूह रचना के बदले मध्यकालीन मोर्चेबन्दी न दिखाये। लेकिन यही चीज, जिसे उस चित्रकार का अज्ञान अथवा भोलापन बताया जा सकता है, इस बात का भी लक्षण है कि वह चित्रकार अपनी युगातीत सामग्री को एक समकालीन मुहावरे मे प्रस्तुत कर रहा था और ऐसा करने मे कोई सकोच नही करता था—क्योकि युगातीत वस्तु समकालीन पोशाक मे ही सार्थक रूप मे दिखायी जा सकती है "दूसरे शब्दो मे, जहां उस चित्रकार मे ऐतिहासिकता बोध की कमी थी वही यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि उस का स्थिति-बोध और व्यवहार-बोध लगातार उस की 'पुरानी' जानकारी का नवीकरण करता चलता था। इतिहास बोध उसे नही था तो एक युग-सन्धि बोध से वह उस की कमी पूरी कर लेता था। यही बात हम रामलीला अथवा भागवत-लीला मे भी देख सकते है। ये कथाएँ भी युगातीत बल्कि कालातीत वस्तु प्रस्तुत करती थी, लेकिन प्रस्तोता उस के बीच बिलकुल नि सकोच भाव से समकालीन वस्तु भी भर देता था। कस के अत्याचारी शासन की बात होती और उस मे वस्तु भर दी जाती अपने समकालीन मुगल अथवा रियासती अथवा स्थानीय जमीदारी शासन के अत्याचारो की। यहां भी लगातार कालातीत सामग्री का नवीकरण समकालीन मुहावरे के आधार पर होता जाता था ' महत्व ऐतिहासिक तथ्यगत सच्चाई का नही था बल्कि अनुभवगत युगीन सच्चाई का। दक्षिण मे देवासुर-सग्राम के एक प्रस्तुतीकरण मे तो सुब्रह्मण्य कार्तिकेय (मुरुगन्) देवताओ को बचाने आते हैं तो बाइसिकिल पर सवार हो कर। देहाती लीला मे देवताओ के चमत्कारी विमानो के निकटतम आने वाला कोई यत्र वहाँ उन का परिचित था तो बाइसिकिल थी। पश्चिम का पडित-अध्येता इस पर हँसता है और ऐतिहासिकता बोध की इस कमी को नृतत्त्वशास्त्र की परिधि मे बाँधना चाहता है, लेकिन नृतत्त्व विद्या का विषय जो जीवन्त नर है उसके लिए प्रमाण किताब मे नही बल्कि उस के जीवनानुभव मे हैं।

दृष्टियो के इस अन्तर का एक विलक्षण उदाहरण ईसा के जीवन से सम्बद्ध

धार्मिक चित्रो मे भी मिलता है। ईसाई धर्म ससार के अनेक देशो मे फैल गया है, लेकिन उन के धार्मिक चित्रो के पीछे जो प्रबल ऐतिहासिक आग्रह रहा है उस ने ईसा की छवि को भरसक बदलने नही दिया, बल्कि एक देश-काल से बाँधे रखने का पूरा प्रयत्न किया है। केवल भारत मे आ कर उन का यह ऐतिहासिक आग्रह हार गया भारत के चित्रकारो ने उतनी ही गहरी और सच्ची श्रद्धा-भावना से ईसा के चित्र बनाये हैं लेकिन उसे भारतीय देहाती पोशाक और सन्दर्भ मे ढाल कर ! ये चित्र फिर पूरी तरह अनैतिहासिक हैं, लेकिन जिस सत्य को प्रस्तुत करते हैं वह क्योकि स्वय ऐतिहासिकता से बडा है इसलिए इतिहास के पिंजरे से बाहर निकल कर ही उसे अपने पूरे आयाम मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

तो कला—किसी भी कला, चित्र, मूर्ति, काव्य, नाटक नृत्य—के लिए तथ्यमूलक इतिहास का बन्धन बिलकुल आवश्यक नही है उस के लिए महत्व उस भाव सत्य का होता है जो कालातीत होता है, यानी कला के लिए मानवता बोध इतिहास-बोध से बडा है।

लेकिन इस सच्चाई का भी सन्दर्भ है। बात वही और वही तक सत्य है जहाँ हम उस भाव सामग्री को प्रस्तुत कर रहे हैं जो कालातीत है। जब हम ऐसा विषय प्रस्तुत करते हैं जिस के आयाम तो महाकाव्य के से हो लेकिन जिस की भावगत सत्यता जरूरी तौर पर इतिहास की परिधि के भीतर रहने वाली हो, तब ऐसे प्रस्तुतीकरण के समय तरह-तरह की समस्याएँ उपस्थित होगी। रामलीला, कृष्णलीला अथवा ईसा चरित की बात दूसरी है क्योकि ये चरित्र (विशेष रूप से ईसा की ऐतिहासिकता के आग्रह के बावजूद) इतिहास से बडे हो गये हैं उन का एक वैश्विक आयाम है जिसे काल नही बाँधता। लेकिन हमारी सास्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा म ऐसी घटनाएँ आयी जिन के आयाम महाकाव्य वाले हैं, लेकिन जिन क प्रस्तुतीकरण म ऐतिहासिकता का बोध (अथवा उस की कमी) कई समस्याएँ खडी कर देता है। इन समस्याओ का विचार आज की कलाओ के लिए अनिवार्य है—आधुनिक काव्य, नाटक, रगमच और चित्रकला के लिए तो अनिवार्य है ही, रामायण, महाभारत आदि की लीला के प्रस्तुतीकरण म भी समस्याएँ पैदा करता है।

इस तरह की घटनाओं अथवा कथा-वस्तुओ म, जिन के आयाम तो महाकाव्योचित हो लेकिन जिन्हे ऐतिहासिक सन्दर्भ से काट कर देखना उन्हे अर्थहीन कर देना होगा, हमारे स्वाधीनता आन्दोलन से बढ कर क्या चीज होगी ? अभी तो ऐसे बहुत से लोग जीवित हैं जिन के लिए स्वाधीनता सग्राम अपने निजी अनुभव की बात थी। ऐसे लोग उस सग्राम को और उस की भावस्थितियो को आज स्मरण म चाहे जितनी रोमानी रगत दे कर देखें, इस बात

में तो छुटकारा न पा सकेंगे, न पाना चाहेंगे कि वह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। अपने ही प्रत्यक्ष अनुभव से थोडा हट कर दूसरी विराट् ऐतिहासिक घटनाओं की बात सोचें तो हिरोशिमा-नागासाकी का अणुबम विस्फोट अथवा रूसी क्रांति अथवा चीनी क्रान्ति भी ऐसी घटनाएँ हैं जो अगर काल की दृष्टि से हमारे इतने निकट न होती तो बडी आसानी से महाभारत का-सा रूप ले सकती थी। उन के आयाम उतने ही बडे और महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन साथ ही उन्हें हम किसी तरह ऐतिहासिक सन्दर्भ में काट कर मिथकीय अथवा पौराणिक सन्दर्भ मे नही रख सकते। दूसरे शब्दो मे कह तो उन के आयाम की विशालता एक मिथकीय सयोजन मांगती है, लेकिन ऐतिहासिक आग्रह पूरी तरह उस की अनुमति नही देते।

इस तनाव को जीवन्त कलात्मक अभिव्यक्ति देना आज की कला की एक समस्या है—केवल काव्य अथवा उपन्यास कला की नहीं, सभी कलाओं की।

जहाँ इस स्तर की कला-समस्याएँ होती है वहाँ कोई बने-बनाये समाधान या नुस्खे काम नही करते। यो तो कला मे कही भी नुस्खे काम नही करते, लेकिन इस सन्दर्भ मे यह बात विशेष रूप से सही है कि समस्या को बेलौस रूप मे रख देने के बाद सारी प्रतिक्रिया कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा पर छोड देनी चाहिए। आलोचक का काम फिर तभी शुरू होता है जब यह सर्जक प्रतिभा अपना काम कर चुकी हो। उस के परिणाम पर ही आलोचक टिप्पणी कर सकता है, उस से पहले सर्जक को यह बताने का कोई अधिकार उस का नही है कि उस की प्रतिक्रिया क्या रूप ले।

राजा राव ने अपने छोटे उपन्यास कण्ठपुरा म राष्ट्रीय जागरण की ऐतिहासिक सच्चाई को मिथकीय आयाम का सस्पर्श देते हुए प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसी मे उस उपन्यास की शक्ति है। कही भी उस इतिहास के रूप म ग्रहण नही किया जा सकता, वैसा करना चाहने पर उपन्यास की सारी वस्तु हलकी और हास्यास्पद जान पडने लगेगी। लेकिन दूसरी ओर कहीं भी इस बात को भुलाया नही जा सकता कि वह एक विराट् ऐतिहासिक घटना को उसी रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है जिस रूप म उस ने ग्राम-मानस को प्रभावित किया होगा—यानी एक मिथकीय आयाम देते हुए। सच्चाई की रक्षा की यह एक औपन्यासिक युक्ति है। रगमच पर बडी सत्ताएँ मुखौटे पहन कर प्रगट होती थी और इस प्रकार एक साथ ही अनुभवगत यथार्थ को और अनुभव-सामर्थ्य से बडे सत्य को प्रस्तुत करती थी। एक तरह से यह उस का औपन्यासिक पर्याय है। फणीश्वरनाथ 'रणु' के छोटे और बडे सभी उपन्यासों म भी इसी युक्ति के सफल प्रयोग देख सकत है वहाँ भी इतिहास नही है लेकिन ऐतिहासिक सत्य है—एक मिथकीय सस्पर्श

लिये हुए, जो रंगमंच के मुखौटे की तरह ही सत्य के विराट् रूप की रक्षा करता है और उसे स्वर देता है।

हम ने कहा कि यह समस्या सभी कलाओं के सामने होगी और उपन्यास के सामने समस्या का रूप स्पष्ट करने के लिए हमने रंगमंच का उदाहरण भी दिया। स्वयं रंगमंच में भी इस के उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन हम नहीं जानते कि ऐसे कौन से उदाहरण होंगे जिन्हें हिन्दी के साधारण पाठक का परिचित मान लिया जा सके। हिन्दी का रंगमंच उतना समर्थ, सम्पन्न और प्रयोगशील नहीं रहा है जितना मराठी अथवा बांग्ला अथवा कन्नड का भी। इधर हिन्दी में कुछ हलचल जरूर है, लेकिन उस का भी कुछ श्रेय इन्हीं तीनों भाषाओं के रंगमंच अथवा रंगकर्मियों को है। उन के रंगमंच में अवश्य यह देखने को मिलेगा कि वही घटना के बड़प्पन को कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है—ऐतिहासिक सत्यता और मिथकीय आयाम दोनों का निर्वाह करते हुए।

समस्या उतनी ही चित्रकला के सामने भी है, लेकिन भारतीय चित्रकार एक-आध अपवाद को छोड़ कर इससे बिलकुल कतरा कर निकल गया है। बाबू हैब्बर ने सन् '४२ के आन्दोलन के कुछ चित्र प्रस्तुत किये थे जिन में हम इस विराट् आयाम को छूने का प्रयत्न देख सकते हैं। कृपाल सिंह शेखावत ने पारम्परिक चित्रकला की युक्तियों का निर्वाह करते हुए फिर एक बार उस रास्ते की याद दिलायी थी जिस पर चल कर चित्रकार अपनी समस्या का सामना कर सकता है और उस का समाधान खोज सकता है। लेकिन उस रास्ते पर कोई चले नहीं, न हमारे आलोचकों में कोई ऐसे निकले जो कला के समाधानों को इस व्यापक भूमि पर रख कर उन का सामना कर सकें। ले-दे कर उन के सामने पिकासो का एक चित्र गर्निका ही रह गया। नि सन्देह यह महान् कलाकृति है, लेकिन उस की नकल भी महान् कलाकृति होगी, ऐसा तो नहीं है। न यही कहा जा सकता है कि अपनी वस्तु के साथ पिकासो के संघर्ष को कोई दूसरा चित्रकार अपने ऊपर ओढ़ कर वहीं पहुँच सकता है जहाँ पिकासो पहुँचा। हर कलाकार अपनी वस्तु से लड़ कर ही उस पर जय पाता है। लड़ाई भीतर लड़ी जाती है, लेकिन इस का यह मतलब नहीं है कि किसी की लड़ाई ओढ़ी जा सकती है या कि सिर्फ अभिनय में जीती जा सकती है।

नृत्य-नाट्य के लिए—और यह विधा भारतीय प्रतिभा की विशेषता रही है—यह समस्या और भी उग्र रूप ले कर सामने आती है। पारम्परिक नृत्य-नाट्य में लोक नर्तक उसी तरह समकालीन वस्तु भी ले आता था जिस तरह पारम्परिक चित्रकार अथवा लीला मंच का नट। लेकिन आज के नाट्य-नर्तक को इस में घबड़ाहट होती है। उस की घबड़ाहट निराधार भी नहीं है

क्योंकि उस की कला चित्रकला की अपेक्षा कहीं अधिक सामाजिक है और ग्रहण के लिए एक व्यापक सामाजिक संस्कार मांगती है। सूनी रंगशाला में या चार-छः सहृदयों के सामने कला-प्रदर्शन का जोखम वह नहीं उठाता—उसे तो भरा-पूरा प्रेक्षक समाज चाहिए। 'इप्टा' की वे प्रस्तुतियाँ जो एक समय मर्म को छू सकती थीं आज क्यों निरर्थक हो गयीं। 'इप्टा' की भारत की खोज आज क्यों नीरस हो जायेगी? ऐसा क्या है कि शान्तिवर्धन द्वारा निर्मित रामायण और पंचतन्त्र आज भी इस के बावजूद भी जीवन्त और प्रभावशाली होते हैं कि उन की वस्तु भी पारम्परिक है और प्रस्तुतीकरण की पद्धति भी, जबकि आधुनिक इतिहास प्रस्तुत करने वाली रंगकृतियाँ उन्नत कौशल और तक्नीक के बावजूद असर नहीं रखतीं? यह बात सोचने की है और सोच कर अपनी स्थापनाएँ सभी कलाओं पर लागू करके देखने की है। उस से हमारी कलाओं को भी लाभ होगा और हमारी आलोचना में भी कुछ जान आयगी।

प्रभात गांगुली ने शान्तिवर्धन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए पशुशाला रची; नृत्य रचना और मंचन कौशल की दृष्टि से यह एक अद्वितीय कृति है और फिर उसे जार्ज ऑरवेल की विख्यात व्यंग्य रचना एनिमल फार्म की पृष्ठिका भी उपलब्ध है। फिर उस का वैसा प्रभाव क्यों नहीं होता जैसा एक कुशल प्रस्तुति का होना चाहिए और जैसा ऑरवेल के उपन्यास का आज भी है? क्या इस का कारण यही नहीं है कि नृत्य-नाट्य की परिकल्पना में कहीं उस तनाव की कमी है जो ऐतिहासिक सत्य और उसी के मिथकीय आयाम वाले प्रतिरूप के बीच होना चाहिए?

वास्तव में यह प्रश्न हमारे युग का एक व्यापक और आधारभूत प्रश्न है, बल्कि यह बहुत से आधारभूत प्रश्नों का स्रोत है क्योंकि इसी में से यह प्रश्न भी निकलता है कि क्या अब ऐसी कृतियों को बचाया जा सकता है जिन्हें हम आधुनिक क्लासिक मानने के आदी हो चले हैं—फिर वे कृतियाँ चाहे काव्य-कला की हों, चाहे चित्रकला की चाहे रंगमंच की, और क्या उन्हें बचाना चाहिए भी और क्या यह चाहना अपने आप में अतीत मोह है? और सवाल आधुनिक क्लासिक तक ही नहीं रह जायेगा, हमें फिर यह भी पूछना पड़ेगा कि क्या रामलीला, कृष्णलीला और दूसरी भागवत लीलाएँ भी बचायी जा सकती हैं—लीला रूप में अथवा मंचीय रूप में—या कि उन्हें भी नष्ट हो जाने देना होगा? या कि वे नष्ट हो ही चुकी हैं और अब केवल व्यावसायिक उपयोगिता की चीज रह गयी हैं?

हमारा विश्वास है कि उन्हें न केवल बचाया जा सकता है बल्कि बचाना चाहिए क्योंकि वे राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं और इस रूप में समग्र

मानव-जाति की सम्पत्ति हैं। उपेक्षित सम्पत्ति अवश्य हैं, लेकिन उद्धार कर के उन्हे फिर मानव-कल्याण मे निश्चय ही लगाया जा सकता है। लेकिन इस के लिए उन मे परिवर्तन जरूरी है। एक तो यह कि हम फिर से उन्हे ऐतिहासिक सन्दर्भ मे प्रस्तुत करें और लगातार उन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का परीक्षण करते रहे। दूसरे यह कि हम स्वय अपनी इतिहास सम्बन्धी धारणा को बदलें। उस की तथाकथित 'वैज्ञानिकता' की सकीर्णता को छोड कर उसे वृहत्तर सास्कृतिक और मानवीय आयाम मे रखने का साहस करें।

क्योकि जैसे इस मे कोई सन्देह नही कि सस्कृति का एक ऐतिहासिक सन्दर्भ होता है जिस की उपेक्षा नहीं हो सकती, उसी तरह यह भी सच है कि इतिहास का भी एक सांस्कृतिक सन्दर्भ है जिस की उपेक्षा नहीं हो सकती। ऐतिहासिक सन्दर्भ खो कर सस्कृति मरुस्थल मे भटकने लगती है, उसे दिशा-ज्ञान नहीं रहता। लेकिन सास्कृतिक सन्दर्भ खो कर इतिहास तत्काल मर जाता है क्योंकि उस का सवेदन ही नष्ट हो जाता है।

अच्छा साहित्य कैसे बिके ?

सरकार का मुँह जोहने की प्रवृत्ति हमारे देश में बहुत पुरानी है। जिस युग में सरकार अर्थात् राजा ईश्वर का लौकिक प्रतिनिधि हो। वे माने स्वयं ईश्वर रूप था उस युग में तो यह स्वाभाविक ही था कि सब कुछ पहले जगदीश्वर और फिर पार्थिवेश्वर पर छोड़ दिया जाय। मध्य-काल में आशा की जाती कि यह प्रवृत्ति कुछ कम हुई होगी, लेकिन अगर कुछ कम होकर यह राजा को ईश्वर के बदले माई-बाप ही मानने लगे तो भी जहाँ तक सरकार का मुँह जोहने की बात है, कोई परिवर्तन जरूरी नहीं था। और कोई परिवर्तन हुआ भी नहीं। यद्यपि रजवाड़ों में राजाओं, महाराजाओं, नवाबों को ईश्वर से कम दर्जा दिया जाने लगा तथापि मुगल बादशाहों की बढ़ती हुई शक्ति और साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ फिर पुराने संस्कार ने जोर पकड़ा—दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा। ब्रितानी औपनिवेशिक शासन में सरकार का दर्जा फिर ईश्वर से गिरकर माई-बाप का हुआ। स्वाधीनता आन्दोलन ने अंग्रेजी शासन का विरोध तो किया लेकिन स्वतन्त्रता संग्राम ने जरूरी तौर पर सरकार से अपना रिश्ता बदलने की बात भी सोची हो, ऐसा नहीं था। अपनी सरकार हो, यह आग्रह तो प्रबल था, लेकिन उसमें यही भाव निहित था कि हम जिस सरकार पर निर्भर करें वह हमारी हो, यह नहीं कि हम स्वयं इस हद तक अपने अधीन हो जायें कि स्वयं अपने सामने उत्तरदायी हों किसी भी संस्थान का मुँह जोहने के बजाय अपने ही से यह आशा करें कि हम अपनी जरूरतों और आकांक्षाओं का उद्यम स्वयं ही करेंगे। दूसरे शब्दों में स्वाधीनता संग्राम ने बहुत व्यापक सार्वजनिक रूप से उस आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं की जो कि वास्तव में एक लोकतन्त्र समाज का आदर्श—स्वतन्त्रता का आदर्श—था। भारतीय समाज स्वाधीनता प्राप्ति से पहले भी सरकार अथवा संस्थान का मुखापेक्षी था और बाद में भी बना रहा। आज भी यही स्थिति है कि शहर की सफाई अथवा परिवार नियोजन से लेकर किताबों की खरीद बिक्री और

साहित्यकार की दवा-दारू, हर बात के लिए हम सरकार का मुँह जोहते हैं। "सरकार यह क्या नहीं करती—" "सरकार को चाहिए…" —चारों तरफ यही सुनने में आता है कि सरकार को कुछ करना चाहिए। और यह शोर सबसे अधिक वे ही लोग मचाते हैं जिन्हें इस परमुखापेक्षिता का विरोध सबसे अधिक करना चाहिए—स्वयं अपने हित में भी और पूरे समाज के हित में भी—यानी हमारे तथाकथित बुद्धिजीवी।

जब समाज की और उसके उस अंग की जिसे प्रबुद्धचेता मानना चाहिए, ऐसी स्थिति है तब सरकार को स्वतन्त्रता की भावना के विस्तार की चिन्ता क्यों होने लगी? उसको तो इसमें सुविधा ही सुविधा है कि सब कुछ की जिम्मेदारी उस पर डाल दी जाय। अवश्य ही इसमें उसकी उन जिम्मेदारियों को निबाहने की शक्ति तो नहीं बढ़ेगी, लेकिन उसको यह अधिकार तो मिल ही जायेगा कि अपनी हर असफलता पर इन्हीं बुद्धिजीवियों को थोड़ा उपदेश दे दे, थोड़ा फटकार दे उनमें कमिटमेंट का तकाज़ा कर दे और कभी हालात ज्यादा नाज़ुक हों तो उन्हें छोटा-मोटा सम्मान बाँटकर परचा दे और साथ-साथ अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार थोड़ा और बढ़ा ले। पूरे समाज की और उसके इस बुद्धिजीवी अंग की इस मानसिकता के उदाहरण हमारे समाज जीवन के हर क्षेत्र में मिल सकते हैं। यही विश्वविद्यालयी अध्यापक का साधारण चिन्तन हो गया है यही पत्रकार सोचता है और यही साहित्यकार भी मानता है। न विश्वविद्यालय स्वतन्त्र है अथवा स्वतन्त्रताकामी है, न अकादेमियाँ स्वतन्त्र हैं अथवा स्वतन्त्रताकामी हैं। विश्वविद्यालय और अकादेमियाँ तो सरकारी पहल से बनी थीं, इसलिए उनकी पराधीनता की कुछ पैरवी भी की जा सकती है; जो संस्थान अथवा संगठन सरकार की पहल से नहीं बल्कि प्रबुद्धचेता जनसेवियों के प्रयत्न से आरम्भ हुए थे वे भी सब उसी गड्ढे में जा गिरे हैं और उसमें गिरकर ही प्रसन्न हैं। वहाँ पड़े-पड़े वे उस दिन अथवा उस संयोग की बाट देख रहे हैं जब सरकार उन्हें उबारने का कुछ प्रयत्न करेगी, तभी गड्ढे में उन्हें इतना सहारा देती रहेगी कि वे वहीं से शोर मचाते रहकर अपनी जनसेविता अथवा क्रान्तिकारिता की प्रतिमा बनाये रख सकें।

हमने कहा कि यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। उसके पूरे विस्तार की चर्चा करना चाहना स्वयं एक मरुथल में खो जाना होगा। इसलिए वैसा न करके हम उसके केवल एक पक्ष की चर्चा करें जिसका सम्बन्ध साहित्य, उसके प्रचार, प्रसार और साहित्यकार से है। उत्तर प्रदेश का हिन्दी संस्थान भी है तो सरकारी संस्थान ही और जिस युग-सन्धि में, जैसी राजनैतिक ऋतु में वह अंकुरित हुआ उसमें यह ज़रा भी अस्वाभाविक नहीं था कि स्वयं संस्थान के [illegible] ों का प्रयत्न

किया जाय अथवा किसी एक खूंटे से बांधने का प्रयत्न किया जाय। एक से बांधना सम्भव न हो तो दो-तीन खूंटो से बांध दिया जाय। सस्थान की ओर से विचार-गोष्ठी हुई तो उसमे भी पहला प्रश्न यह उछाला गया कि अच्छे साहित्य की अथवा पत्रिकाओ की बिक्री क्यो नही होती और उसमे सस्थान को क्या करना चाहिए। सस्थान क्या करे यह प्रश्न निहित रूप से यही था कि सरकार क्या करे, और सरकार जो करे साहित्यकारो की सलाह से करे, इसमे भी यह निहित था कि साहित्यकार उस कार्यक्रम के साथ बँध जाय जो सस्थान के निमित्त से बना हुआ सरकारी कार्यक्रम हो।

अच्छा साहित्य क्यो नही बिकता इसकी चिन्ता मुझे भी है। लेकिन एक नागरिक के नाते लगातार इसकी चिन्ता करता हुआ और यह प्रयत्न करता हुआ कि लोग अच्छे साहित्य की ओर आकर्षित हो मैं इस बात को भूलना नही चाहता कि बिक्री का प्रश्न साहित्यकार से जुड़ा होकर भी अन्तत एक साहित्यिक प्रश्न नही है। इस बात को जोर देकर कहने की जरूरत है क्योकि बहुत से साहित्यकार भी इस बात से भडक उठते हैं क्योकि यह उन्हे साफ दीखता है कि अगर अच्छा साहित्य बिकेगा नही तो उसका रचयिता जियेगा कैसे? बात यह है कि बिक्री का प्रश्न अगर रुचि का प्रश्न न होकर बिक्री का प्रश्न है तो वह बाजार का प्रश्न है और बाजार का प्रश्न तो व्यवसाय के नियमो के अधीन ही हल किया जा सकेगा। अगर अमुक एक प्रकार का साहित्य नही बिकता और अमुक दूसरे प्रकार का बिकता है तो जिसे केवल बिक्री मे दिलचस्पी है वह उस दूसरे प्रकार का साहित्य पैदा करने लगेगा। बिक्री का प्रश्न जिन्स से जुडा हुआ है और अगर आप ने मान लिया कि साहित्य भी एक जिन्स है तब फिर आप उसे व्यवसाय के नियमो के अधीन रहने देने को बाध्य हो जाते हैं। अधिक से अधिक आप यही कह सकते है कि जिस तरह जिन्स के साथ भी शुद्धता आदि के नियन्त्रण की व्यवस्था होती है उसी तरह साहित्य रूपी जिन्स के साथ भी हो और इस माने मे यह इसी मे निहित है कि जैसे दूसरे पदार्थों के लिए क्वालिटी कट्रोल सरकार के अधिकार क्षेत्र मे है उसी तरह साहित्य मे भी क्वालिटी कन्ट्रोल उसके अधिकार क्षेत्र मे आ जाता है। साहित्यकार ऐसा मान ले, बल्कि स्वय इसका आग्रह करे, यह स्वेच्छा से फांसी के फन्दे मे अपना सिर डाल देना है। लेकिन कितने साहित्यकार है जो अच्छी पुस्तको का सवाल उठते ही इस छलाव मे आ जाते हैं कि बिक्री पर नियन्त्रण होते ही—या सरकारी खरीद की व्यवस्था होते ही—अच्छा साहित्य धडाधड बिकने लगेगा और दूसरे साहित्य पर अपने आप रोक लग जायेगी! अनाज पर नियन्त्रण होने के बावजूद क्या हमे मिलावटी अनाज नही मिलता? तेल पर और सीमेण्ट पर नियन्त्रण होने के

बावजूद क्या हमें मिलावटी तेल और सीमेण्ट नहीं मिलता ? और इन चीजों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी चीजों की सरकारी खरीद होती है, उसमें क्या सब अच्छा माल ही खरीदा जाता है ? और सरकारी खरीद के बाद जो माल सरकार की ओर से हमें मिलता है वह सब क्या शुद्ध और निर्दोष होता है ? यहाँ तक कि जिन दवाइयों पर बहुत से लोगों का जीवन-मरण निर्भर करता है वे भी क्या शुद्ध मिलने लगती हैं ? जब ऐसा है कि जिन चीजों के गुण-दोष के निर्णय के लिए दो-टूक और निर्भ्रान्त कसौटियाँ हो सकती हैं उनके साथ ही ऐसा अन्धेर होता है तो यह किस आधार पर माना जा सकता है कि साहित्य के नियन्त्रण से अथवा उसकी थोक खरीद से अच्छे साहित्य का ही प्रचार होने लगेगा। जबकि साहित्य में अच्छाई-बुराई की वैसी कोई निर्भ्रान्त कसौटियाँ नहीं होतीं ? और इतना ही नहीं, जबकि साहित्य के स्वास्थ्य के लिए यह भी आवश्यक है कि जिससे हम सहमत नहीं हैं उसके लिए भी उतना ही खुला क्षेत्र मिल सके जितना उन बातों को जिनको हमारा अनुमोदन प्राप्त है।

अच्छा साहित्य नहीं बिकता, फिर भी कुछ सिरफिरे हैं जो हठपूर्वक अच्छा ही साहित्य लिखते हैं या लिखना चाहते हैं। क्यों चाहते हैं ? इसीलिए तो कि उनके पास एक मूल्य-दृष्टि है जिसे वे अपने लाभालाभ से उच्चतर समझते हैं जिसे वे सरकार से भी ऊपर रखते हैं और जिसके लिए वे कष्ट और दारिद्र्य और उपेक्षा सहने को भी तैयार हैं। यह भी हो सकता है कि उनकी मूल्य-दृष्टि धुँधली या विकृत हो, इस सम्भावना को वे पहचानते भी हैं। फिर भी वे अपने हठ पर टिके हैं। क्या ? क्या यही उचित नहीं है कि ऐसे लोगों को उनके भाग्य पर और उनके उद्यम पर छोड़ दिया जाय। या तो उनके साहित्य में इतनी शक्ति होगी कि वह समाज को एक दूसरा संस्कार दे सकेगा। तब उस साहित्य का सम्मान भी होगा और आगे-पीछे उसकी बिक्री भी होने लगेगी। या उनके साहित्य में वैसी शक्ति नहीं होगी और वह उपेक्षित रहता चला जायेगा। या फिर सच्चाई यह होगी कि उनके साहित्य में तो गुण और प्रतिभा है, लेकिन जिस समाज में वे रचना कर रहे हैं वह समाज ही इतना बुद्धिभ्रष्ट और सर्वाधिकल है कि उस अच्छे साहित्य की कद्र नहीं है, उस किसी खास बात का नशा चाहिए। अगर साहित्य की बिक्री का प्रश्न मूलतः इस तरह का सामाजिक प्रश्न है तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि बार-बार उसी साहित्यकार के सामने आने के बदले दूसरे पक्ष की ओर उन्मुख हों, उसमें जवाबतलब करें, उसके संस्कार उन्नत करने का प्रयत्न करें, उसके लिए ऐसी स्थितियाँ पैदा करें कि वह उन्नत हो सके। निःसन्देह ऐसे हर प्रयत्न में भी साहित्यकार की दिलचस्पी होगी और उसका सहयोग भी होगा, लेकिन इस-

लिए नही कि यह प्रश्न अपने आप मे साहित्यिक प्रश्न है, बल्कि इसलिए कि साहित्यकार साहित्यकार होने के नाते अपने नागरिक उत्तरदायित्वों से छुटकारा नही पा जाता ।

अच्छे साहित्य की बिक्री का प्रश्न साहित्य के सबसे नजदीक वहाँ आता है जहाँ हम उसे सम्प्रेषण की स्थितियो से जोडते है । सर्जन कर्म क्योकि जरूरी तौर पर सम्प्रेषण कर्म भी है, और सम्प्रेषण के लिए गृहीता पक्ष का सस्कार भी इतना ही महत्त्व रखता है इसलिए साहित्यकार के लिए इस बात का भी महत्त्व है कि सम्प्रेषण की प्रक्रिया के दूसरे छोर पर एक सस्कारी समाज हो। लेकिन सम्प्रेषण की सामाजिक स्थिति सुधारने वाले किसी भी सस्थान का अथवा सरकार का साहित्य-सर्जक से भिडने का कोई प्रयोजन नही है, अगर उसका उद्देश्य खरा है तो उसे समाज की ओर ही उन्मुख होना चाहिए, समाज को सम्बोधन करना चाहिए ।

इसी तर्क से एक आनुषगिक प्रश्न भी निकलता है, जिसका यहाँ उल्लेख करना तो जरूरी नही है, लेकिन जिससे बात कुछ और तीखी, ज्यादा साफ हो जायेगी । अच्छे साहित्य के प्रसार की अगर इतनी ही चिन्ता सरकार और सरकारी तन्त्र और अकादेमियो और सस्थानो को है तो ऐसा क्यो नही हुआ कि देश का अच्छा साहित्य अच्छे सुन्दर और प्रामाणिक सस्करणो मे सस्ते दामो पर पूरे समाज को सुलभ किया जाय ? ऐसा क्यो हुआ कि सभी सरकारी सस्थान उन्ही लेखको की ओर मुडे जो आज लिख रहे हैं ? क्यो इन्होने उन्ही को दिशा देना चाहा, क्यो उनके ही रचना-कर्म को प्रभावित करना चाहा, क्यो उस साहित्य का रूप निर्धारित करना चाहा जो कल लिखा जायेगा ? जीवित साहित्यकार के हित-रक्षा की दलील उन्हे सुलभ थी जरूर, लेकिन ऐसा भी तो बहुत-सा साहित्य था और है जिस पर कॉपीराइट के कोई बन्धन नही थे, जो सर्वसम्मति से अच्छा था, लेकिन जिस तक बहुत लोग इसलिए नही पहुँच सकते थे कि वह दुष्प्राप्य था, या महगा था या सुलभ न होने के कारण और महगा हो गया था ? बल्कि क्या यह भी सही नही है कि आज जो अच्छा लिखा जा रहा है उसकी बिक्री की सम्भावना भी तभी बढेगी जब लोग पहले उस साहित्य से परिचित हो गये हो जो कल लिखा जा चुका ? इतना ही नही, नितान्त समकालीन या टटका साहित्य तो विवादास्पद भी हो सकता है, उसकी अच्छाई-बुराई का निर्णय तो आगामी कल मे होगा, और उसी साहित्य का प्रश्न होगा जो विगत कल का अच्छा साहित्य स्वीकार कर लिया गया है । इसलिए आज के अच्छे साहित्य की पहचान और व्यापक स्वीकृति के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि विगत कल के श्रेष्ठ साहित्य को सर्वत्र सुन्दर और टिकाऊ सस्करणो मे उपलब्ध कराया जाय ।

किस सरकारी संस्थान ने यह काम किया ? इस दिशा में जो थोड़ा बहुत काम हुआ भी वह या तो व्यावसायिक संस्थानों ने किया या थोड़ी सी आदर्शवादी जन-संस्थाओं ने किया जो सरकार का आश्रय लेते ही तुरत इस काम से विरत हो गयी ? एक बहुत ही सीमित क्षेत्र में गोरखपुर के गीता प्रेस ने जो काम किया उसका उद्देश्य सर्जनात्मक साहित्य का प्रचार तो नहीं था, लेकिन एक विशेष प्रकार के सत्साहित्य के प्रचार का तो था ही, और उसने यह भी असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया कि अच्छा साहित्य शुद्ध और प्रामाणिक संस्करणों में कितना सस्ता बेचा जा सकता है और कितना ग्राह्य होता है। क्या नहीं किसी सरकारी संस्थान को भी इस प्रमाण के बावजूद सत्साहित्य के प्रकाशन का हौसला हुआ ? इस आधार पर अगर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सरकारी संस्थान के सरकारीपन में ही दोष की जड़ है तो क्या इसे पूर्वग्रह माना जायेगा ? संस्थानों में इक्के-दुक्के सदाशयी साहित्यकार होते हैं जो अपनी सदाशयता की दुहाई देते हैं, उन्हें इस बात से क्लेश भी होता है कि उनकी बात पर साहित्यकार पतियाते क्यों नहीं ? लेकिन तन्त्र का सवाल केवल व्यक्ति की सदाशयता का सवाल नहीं रहता। कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति की सदाशयता स्थिति के अनिवार्य दबावों को ओझल भी कर देती है, हमें भ्रम में डाल देती है। और उस भ्रम की ओट में सरकारी तन्त्र फिर हावी हो जाता है और सदाशयी व्यक्ति भी पाता है कि उसका केवल इस्तेमाल कर लिया गया है।

एक क्षेत्र अवश्य है जिसमें लेखक को भी यह विचार करना पड़ता है कि अच्छा साहित्य नहीं बिकता तो परिस्थिति के सुधार के लिए उसका भी कुछ कर्तव्य है या नहीं। हमारे आज के समाज में लेखक के लिए इस दिशा में अपना कर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है—लेकिन यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि न तो यह काम सरकारी तौर पर हो सकता है, न यह सरकार का अधिकार है कि वह लेखक से इस कर्तव्यपूर्ति का तकाज़ा करे।

यह क्षेत्र है सामाजिक रुचि के निर्माण का। एक हद तक तो सभी साहित्य समाज की रुचि बदलता या निर्मित करता है, लेकिन समाज-संस्थान की अपेक्षया टिकाऊ परिस्थितियों में इसकी आवश्यकता उतनी प्रबल नहीं होती और बहुत दूर तक साहित्यकार तत्कालीन स्थिति को स्वीकार करता हुआ आगे बढ़ सकता है—उसे संवाद की स्थिति बहुत कुछ बनी बनायी मिलती रहती है। लेकिन संक्रान्तिकाल अथवा बहुत तेजी से बदलती हुई सामाजिक स्थिति में अथवा उस स्थिति में, जिसमें साहित्यकार स्वयं समाज को बदलने में योग देना चाहता है, यह सम्भव नहीं रहता कि संवाद की तत्कालीन बिगड़ती हुई अवस्था में वह सन्तुष्ट रहे। ऐसी अवस्थाओं में साहित्यकार

स्वय अपने समाज का निर्माण करता है। अपने समाज का निर्माण अपने सामाजिक अथवा गृहीता की रुचि का मार्जन और पुन सस्कार है। अगर अच्छा साहित्य नही बिकता तो अच्छे साहित्य की रचना करनेवाला या कि चाहने वाला एक ऐसे समाज के निर्माण और विस्तार मे जुटता है जिसमे जिसे वह सत्साहित्य समझता है उसका प्रचार अधिक हो सके, उसके प्रति अनुकूल आग्रह का मनोभाव बन सके। यहाँ भी लेखक का आग्रह उस साहित्य की अधिक बिक्री का नही होता, उसके सामाजिक स्वीकरण का ही होता है। अधिक बिक्री उसके लिए आनुषगिक चीज है, प्रकाशक के लिए भले ही उसका महत्व पहले हो। यह उल्टा तर्क है कि अच्छे साहित्य की बिक्री न होने पर सरकार साहित्यकार से जवाब तलब करे। सही तो यह होगा कि सरकार समाज म ऐसी स्थितियाँ पैदा करने की ओर दत्तचित हो जिस मे अच्छे साहित्य के लिए ललक हो और साहित्यकार सरकार को इसके लिए कोंचता रहे कि सरकार इस दिशा मे अपना कर्तव्य करे।

क्या सरकारो ने कभी इस बात पर विचार किया है और इसका कारण खोजने की कोशिश की है कि हिन्दी की पुस्तकें और पत्र क्यो उत्तर-प्रदेश म सब से कम बिकते है जबकि वह हिन्दी का हृदय-देश माना जाता है? और सरकारें ही क्यों, भाषा और साहित्य की सस्थाओ को भी तो इस पर विचार करना चाहिए कि क्यो बिहार अथवा मध्य-प्रदेश म, जहाँ गरीबी उत्तर-प्रदेश से कही अधिक है अथवा राजस्थान मे जहाँ साक्षरता कम है, हिन्दी की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ खरीद कर पढी जाती हैं। और भी विलक्षण बात यह है कि पूर्वी उत्तर-प्रदेश, जो कि अपेक्षया निर्धन है, फिर भी पुस्तकें खरीदता है और सम्पन्नतर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश म पुस्तकें कम बिकती है। (यह बात इनके प्रकाशको और पुस्तक विक्रेताओ के अनुभव के आधार पर कही जा रही है।) क्या इससे यह परिणाम निकाला जाय कि गरीब तो किताब खरीद कर पढता है और अमीर या तो पढता नही या किताब मुफ्त पाना चाहता है? नि सन्देह यह परिणाम निकालना गलत होगा, लेकिन यह सम्भावना यहाँ इसीलिए रखी जा रही है कि सवाल को ठीक दिशा मे मोडा जा सके।

पुस्तको की बिक्री मे सरकार की दिलचस्पी कोई ईमानदार व्यावहारिक और स्वस्थ दिशा क्यो नही ले सकती? हम इसका समर्थन नही करते कि सरकार थोक खरीद कर के अच्छी किताबो का पूरा-का-पूरा सस्करण कही डाल कर सडा दे यद्यपि पुस्तकालयो के लिए चुनी हुई पुस्तकों की थोक खरीद सर्वथा उचित होगी यदि चुनाव की ठीक व्यवस्था हो सके। भ्रष्टाचारियो की लम्बी शृखला के माध्यम से कोई सही काम नही हो सकता क्योंकि सही

दीखने वाले काम भी बिगाड़ दिये जायेंगे। बहरहाल थोक खरीद ही एकमात्र उपाय नहीं है। सरकार अच्छी पुस्तक के प्रकाशक को कागज सस्ते दाम पर दिलवा कर अच्छे साहित्य के प्रकाशन में योग दे सकती है। बल्कि शायद सरकार का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सबसे कम खतरनाक योग यही हो सकता है कि वह अच्छी पुस्तक प्रकाशित करने वाले को अगले अच्छे प्रकाशन के लिए कागज के मामले में सुविधाएँ उपलब्ध करा दे। अवश्य ही इस में सरकार को साहित्य के प्रोत्साहन के लिए अपनी पीठ ठोकने की वैसी सुविधा नहीं मिलेगी, न ही सरकारी अधिकारी साहित्यिक मंचों पर एक वैसी आत्म-तुष्टि प्रकट कर सकेंगे जैसी आज करते हैं। लेकिन हमारा उद्देश्य सरकार को सुविधा देने का नहीं है, उद्देश्य तो अच्छे साहित्य के प्रसार के रास्ते खोजना है।*

---

* संस्थानों के लिए इससे जुड़ा हुआ एक प्रश्न और है, विशेष रूप से उन संस्थानों के लिए जो सत्साहित्य की बिक्री ही नहीं, उसके निर्माण और प्रकाशन की भी जिम्मेदारी ओढ़ते हैं। हिंदी ग्रन्थ अकादेमियाँ भी इन में शामिल हैं। इन अकादेमियों की निर्माण प्रक्रिया बड़ी दिलचस्प होती है। प्रकाशन योजना में ये पहले विशेषज्ञों की समितियाँ बनाती हैं जिन की राय से ग्रन्थों के विषय और उन के लेखक चुने जाते हैं। इन समितियों में विश्व-विद्यालयों के कुलपति होते हैं, बड़े शिक्षा-अधिकारी होते हैं, और विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। आवश्यकतानुसार ये समितियाँ अलग अलग विषयों के लिए उपसमितियाँ बनाती हैं, जिनमें फिर विशेषज्ञों की राय से चुने हुए विशेषज्ञ रखे जाते हैं। ये उपसमितियाँ ग्रन्थ लिखने के लिए फिर विशेषज्ञ नियुक्त करती हैं और उन विशेषज्ञों द्वारा रचनाओं की जाँच कर के रिपोर्ट देने के लिए फिर दूसरे विशेषज्ञ चुनती हैं। इस प्रकार ऊपर से नीचे तक विशेषज्ञों द्वारा रचे और रचाये गये ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं। यहाँ तक तो सारी प्रक्रिया बड़ी प्रामाणिक और निर्दोष दीखती है। लेकिन प्रक्रिया का रोचक पक्ष इसके बाद सामने आता है। ये ग्रन्थ क्योंकि उच्चतर कोटि के अध्येताओं के लिए लिखे अथवा लिखाये गये होते हैं इसलिए यथासमय पाठ्यक्रम समितियों के सामने भी पहुँचते हैं। ये समितियाँ भी विशेषज्ञों की होती हैं विशेषज्ञों द्वारा चुनी जाती हैं। बहुधा इन में भी वे ही लोग होते हैं जो प्रकाशन से पहले की चुनाव प्रक्रिया में विशेषज्ञ रहते हैं। आखिर हिंदी प्रदेश में विभिन्न दिशाओं के पदासीन विशेषज्ञ हैं ही कितने! लेकिन पाठ्यक्रम निर्धारण समिति में बैठ कर ये ही विशेषज्ञ अपनी ही राय से चुने गये लोगों से लिखाये गये और अनुमोदित प्रकाशनों को छोड़कर व्यवसायी प्रकाशकों द्वारा छापी गयी पुस्तक स्वीकार कर लेते हैं और वे ही पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं।' अर्थात् जहाँ खरीदने का अथवा उपयोगिता का सवाल उठता है वहाँ ये विशेषज्ञ अपने किये-कराये को अग्राह्य घोषित कर देते हैं। इसका क्या अर्थ समझा जाय? क्या यहीं पर यह प्रश्न नहीं उठता कि अगर इन का अंतिम निर्णय सही है तो उससे पहले के उन के सब निर्णय गलत थे? और अगर वे गलत थे तो या तो वे लगातार बेईमानी करते रहे या फिर विशेषज्ञ नहीं हैं? और अगर लगातार उनकी विशेषज्ञता झूठी थी

तो फिर उन के अन्तिम निर्णय पर भी कैसे भरोसा किया जाय ? या फिर पाठ्यक्रम निर्धारण समिति में ही उनका निर्णय गलत हुआ और पहले के सब निर्णय सही थे ? और यह बात मानी जाय तब फिर वे ही सवाल उठते है कि क्या यह अन्तिम निर्णय बेईमानी का था या किसी-न-किसी तरह के भ्रष्टाचार या लोभ का परिणाम है ? हम नही जानते कि इन विशेषज्ञ समितियों में कभी यह सवाल उठाया जाता है या नहीं कि इस शृंखला में यदि सर्वत्र नहीं तो किसी-न किसी एक कड़ी पर विशेषज्ञों ने नीतिभ्रष्ट और बुद्धिभ्रष्ट आचरण किया है जिसके लिए उन्हें लज्जित तो होना ही चाहिए, कभी कहीं दंडित भी होना चाहिए। लेकिन सारी प्रक्रिया ज्यों-की-त्यों चलती जा रही है। सभी लोग मौका पाते ही बेचारे लेखक को उपदेश देने लगते हैं या उससे जवाब तलब करने लगते हैं लेकिन समाज की रुचि और विवेक को भ्रष्ट करने मे अपनी जिम्मेदारी पर विचार नही करते। इसीलिए तो मुझे बार-बार कहना पड़ता है कि लेखक की सब से अच्छी सहायता सरकार और संस्थान की ओर से यही हो सकती है कि उसे उसके भाग्य और काम पर छोड़ दिया जाय। लेखक को तो अन्ततः अपने नैतिक विवेक का सामना करना पड़ता है और वही उसकी नियति का निर्धारण कर देता है। सरकारों और संस्थानों को बराबर यह सुविधा रहती है कि उन्हें नैतिक विवेक का सामना करने की लाचारी से गुजरना नहीं पड़ता। इसीलिए लेखक का यह कर्तव्य होता है कि वह पूरे समाज में नैतिक विवेक को जगाये और उसे इसके लिए भी प्रेरित करे कि वह भी सरकार को उसकी कसौटी पर उतरने को बाध्य करे।

आन गाँव के सिद्ध

हमारे शहरो के विकास ने जिस तेजी से शहर के जीवन को देहात से (यानी अधिकतर भारत से) काटा है उसकी प्रक्रिया को तो कई लोगो ने लक्ष्य किया है। कुछ ने उस पर दुख भी प्रकट किया है। साहित्यकारो मे जहाँ इस के कारण एक तरफ एक खास तरह का भावुक दर्द पैदा हुआ है (अग्रेजी मे अपनाये गये लातीनी मूल के शब्द नास्टेल्जिया का शब्दार्थ है अपनो का विरह अथवा अपनो के लिए दर्द), वहाँ दूसरी तरफ कुछ साहित्यकारो ने इस टूटन को अपनी विशेषता बताकर इस तरह के शहरीकरण का स्वागत भी किया है क्योकि उनकी राय म यह नगर विकास का लक्षण है।

इस मामले मे दिल्ली का विकास भारत के और सब शहरो से अलग ढग का रहा है। कहने को मथुरा तीन लोक से न्यारी थी, लेकिन वास्तव मे दिल्ली का न्यारापन उससे भी विशिष्ट रहा है। बल्कि दिल्ली को तो शुरू से ही नयी दिल्ली नाम के नौकरशाही गाँव ने नगण्य बना दिया था और जब से यह विशालकाय नौकरशाही गाँव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आ गया है तब से तो पूछिये मत। इस प्रक्रिया की बहुत सी बातें विलक्षण हैं। लेकिन सभी का उल्लेख करना न तो सम्भव ही है, न यहाँ उसकी कोई आवश्यकता है। बाहरी लक्षण तो प्रकट ही हैं। एक समय था जब दिल्लीवाला अपनी विशेष वेष-भूषा और अपने बात करने के लहजे से पहचाना जाता था। नयी दिल्लीवाले की पोशाक और उसका बोलने का ढँग ही नही बल्कि जो जबान वह बोलता है वह भी उसे और भारतवासियो से अलग कर देती है। अग्रेजी का प्रभुत्व तो सारे देश मे है ही, जो लोग देशी जबान बोलना गवारा करते है वे भी अब किसी-न-किसी तरह की खिचडी का ही प्रयोग करते हैं। लेकिन यह दिल्ली की विशेषता है कि यहाँ के लोग इस खिचडी को भी विलायती ढग से बोलते हैं। और तो और अब रेडियो और टेलीविजन पर भी हिन्दी अमेरिकी-उच्चारण के साथ और चबाकर बोली जाती है—यही सम्य हिन्दी है और

किसी दूसरी हिन्दी की याद दिलाने वाले सब साम्प्रदायिक या दकियानूसी करार दे दिये जाते हैं !

लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीय नयी दिल्ली की एक और विशेषता है जो बाहर उतनी लक्षित नही होती, लेकिन जो शायद दूसरी सब साहित्यिक विशेषताओ से अधिक चिन्त्य है। वह है भारतीय साहित्य और साहित्यकार मात्र के प्रति उपेक्षा और अज्ञान (और अज्ञान के कारण फिर एक आक्रामक अवज्ञा) और उस के साथ-साथ विदेशी साहित्यकार मात्र के प्रति बढा हुआ सम्मान—जिसे दैन्य भाव ही कहे तो शायद अत्युक्ति न होगी।

बढते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का एक पहलू है सास्कृतिक सम्बन्ध। सरकारी स्तर पर ये सास्कृतिक सम्बन्ध वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय लोक-सम्पर्क का ही एक दूसरा नाम होते हैं। लोक-सम्पर्क द्वारा अपने देश के प्रति विदेशो मे मैत्री-भाव बढाने वाले लोगो के सामने अगर यह बात स्पष्ट हो तो लोक-सम्पर्क को सास्कृतिक सम्बन्ध कहने मे कोई दोष या खतरा नही है, लेकिन जहाँ सास्कृतिक सम्बन्ध के नाम से लोक-सम्पर्क करती हुई सरकारी सस्थाएँ अपने उद्देश्य को इस हद तक भूल जाय कि सस्कृति का केवल आयात होने लगे और मैत्री भाव का केवल निर्यात, तब जरूर चिन्ता की बात हो जाती है। हम तो सभी को अपना मित्र या भाई मानकर उनके लिए और उनके आचार विचार, उनकी सस्कृति के लिए पलक-पाँवडे बिछाते रहे और यह सवाल पूछना भी भूल जाय कि वे कहाँ तक हमे अपना मित्र मान रहे है, उन के देश मे कहा तक हमारी सस्कृति और हमारे विचारो के प्रति सम्मान अथवा ग्रहणशीलता बढी है यह लोक-सम्पर्क नही है, यह केवल अपने को धोखा देना है और कही-कही तो आत्मसम्मान बेचने का भी पर्याय हो जाता है।

भारत की विभिन्न भाषाओ के साहित्यकार विदेशो मे घूमे है। कभी-कभी उनकी यात्राएँ निजी आधार पर भी रही है, कभी वे पढाने भी गये हैं, कभी-कभी टूरिस्ट बन कर भी गये हैं, लेकिन अधिकतर उनकी यात्राएँ सास्कृतिक विनिमय के किसी न किसी कार्यक्रम के अधीन होती रही है। लेकिन क्या आपने कभी सुना कि विदेश की किसी राष्ट्रीय स्तर की साहित्यिक सस्था अथवा राष्ट्रीय साहित्य परिषद् (अकादमी) ने किसी साहित्यकार को अपने पार्षदो का सम्बोधन करने के लिए आमन्त्रित किया हो ? यह न सही, यह भी कभी सुना कि किसी राष्ट्रीय साहित्य अकादेमी ने किसी भारतीय साहित्यकार के सम्मान के लिए कभी कोई गोष्ठी या जलपान ही आयोजित किया हो ?

अब पलट कर आप विदेश से भारत आने वाले साहित्यकारो की स्थिति लक्ष्य कीजिये। साहित्यकार जरा व्यापक नाम है, विदेशो के सन्दर्भ मे उस मे अनुवादक, पत्रकार, रेडियो वार्ताकार, सिनेमा के सवाद लेखक और कठपुतली

रगमच के वाचिक अग के लेखक तक सब आ जाते हैं। सस्कृति के क्षेत्र मे क्रियाशील सभी तरह के सर्जकों और नये प्रयोग करने वालो को हमारा देश आदान प्रदान की योजना के अधीन आमन्त्रित करे, इसका हम समर्थन करते हैं। यह काम भारत सरकार की सास्कृतिक सम्बन्ध परिषद (इडियन कौंसिल फार कल्चरल रिलेशन्स) करे, यह भी व्यवस्था और सयोजन की सुविधा की ही बात है—दूसरे देशो म ऐसा काम उनकी अपनी समतुल्य एजेंसियाँ करती हैं। ब्रिटेन की कौंसिल है जनवादी देशो के सस्कृति भवन (हाउस आफ कल्चर) होते हैं जापान की जापान फाउन्डेशन है। अमरीका ने अपनी सूचना एजेंसी का नाम बदल कर सम्पर्क एजेंसी कर लिया है और अब वह व्यापक क्षेत्र म सास्कृतिक सम्पर्क का काम करती है लेकिन ये सब परिषदें और एजेंसिया सरकारी स्तर पर सास्कृतिक विनिमय का काम करती हैं— अर्थात् अपने देश के हित मे काम करती हैं। अगर आयात निर्यात की शब्दावली का ही व्यवहार करना है तो कहें कि यह सब एजेंसियाँ अपनी सस्कृति का निर्यात करती हैं और मैत्री का आयात करती हैं। वे चाहती हैं कि विदेशो मे उनके देश के प्रति सद्भाव और ग्रहणशीलता बढ़े यह नही कि उनका देश विदेशी प्रभावो के प्रति अधिक खुले। भारत सरकार की सास्कृतिक सम्पर्क परिषद ने क्या किया है, उसकी इन एजेंसियो से तुलना करने लगें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। मुस्लिम अथवा अरब देशो म भारत के प्रति कुछ अनुकूलता पैदा करने का काम परिषद ने अवश्य किया—लेकिन वह भी कैसे ? कुरान की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ ऐसे कुछ देशो को भेंट कर के। लेकिन बाकी ससार म उसने भारत की छवि प्रसारित करने के लिए क्या किया ?

लेकिन असल बात सरकारी सास्कृतिक सम्पर्क की नही थी, साहित्यकार की प्रतिष्ठा की थी। और यही पर भारत की और बाकी ससार की—या ज्यादा सही ढग म कहें तो नयी दिल्ली की और ससार की अन्य राजधानियो की दृष्टि का भेद साफ साफ दीखने लगता है। पारम्परिक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या डा० लोहिया के शब्दो म विश्वयारी के आधार पर इस अन्तर को अनदेखा नही किया जा सकता। न ही भारतीय साहित्यकार के प्रति वह उदासीनता सही जानी चाहिए जो इसम निहित है और जो भारत का दोहरा अहित करती है क्योकि वह विदेशो म भी भारत की छवि को कुछ उज्ज्वल नही करती।

विदेशो म राष्ट्रीय अकादेमियाँ देश के साहित्य की प्रतिष्ठा और राष्ट्रव्यापी मानदडो की स्थापना के लिए प्रयत्न करती हैं और लोक-सम्पर्क की सरकारी अथवा राज्य-समर्थित सस्थाएँ अपने देश की सस्कृति का बाहर प्रसार और उसके लिए ससार म अनुकूलता पैदा करने का काम करती हैं। दूसरे

वर्ग की संस्थाएँ बाहर से भी जिन्हें आमन्त्रित करती हैं इसी उद्देश्य से करती हैं कि उन्हें अपने हित में प्रभावित कर सकें, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए नहीं, यद्यपि यह तो स्पष्ट ही है कि प्रभावों का आदान-प्रदान नियोजना के बाहर भी होता रहता है। लेकिन हमारे जो प्रतिनिधि बाहर भेजे जाते हैं वह भी आयात करने के लिए ही। विदेश से आने वाले तो हर कोटि के संस्कृति-कर्मी का खुला स्वागत होना है और यहाँ तो अकादेमियाँ भी इसी काम में लगी हैं। शुरू में भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवादों का भी कुछ काम उठाया गया था, लेकिन वह धीरे-धीरे भुला ही दिया गया है। अब छोटे-मोटे विदेशी सांस्कृतिक कर्मियों के लिए मंच प्रस्तुत करने का काम ही शायद मुख्य काम रह गया है। जैसा हम ने कहा, इन आमन्त्रितों के स्तर अथवा महत्व का भी कोई विवेक नहीं होता जान पड़ता—संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले किसी भी विदेशी के लिए मंच हाजिर है—कोई चाहे संयोगवश ही दिल्ली में हो, सैर के लिए आया हो या किसी ने अपने देश के दूतावास से अकादेमी को पत्र लिखवा दिया हो कि वह व्याख्यान के लिए उपलब्ध होगा।

साहित्य अकादेमी हिन्दी और अंग्रेज़ी में त्रैमासिक भी निकालती है और एक भारतीय साहित्य-कोश का भी काम हो रहा है। यह काम महत्व का है और हमारी बात का आशय यह नहीं है कि इसकी उपेक्षा हो। अकादेमी पुरस्कार भी देती है, यद्यपि अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है कि वह राष्ट्रीय संस्था होने का दावा कर के भी राष्ट्रीय स्तर के एक पुरस्कार की स्थापना कर सके। ऐसी संस्था का जो काम होना चाहिए वही करने का प्रयत्न अगर वह कर रही है तो उस प्रयत्न के अधूरा होने पर भी हमारी सहानुभूति उसके साथ होगी। लेकिन जो काम उसका नहीं है वह उठाने पर या आधारभूत भ्रान्तियों से आरम्भ करने पर तो उस की आलोचना होनी चाहिए और कड़ी आलोचना होनी चाहिए। और हमें जान पड़ता है कि देशी और विदेशी साहित्यकारों के लिए अकादेमी संगठन की दृष्टि ऐसी ही आधारभूत भ्रान्ति का परिणाम है। उस से देश में अपने साहित्य और भारतीय भाषाओं के साहित्यों के लिए अवज्ञा ही बढ़ी है और विदेशों से जो कुछ आता है उसकी परख करने की क्षमता दिन-ब-दिन घटती जा रही है।

इस मामले में नयी दिल्ली की जिम्मेदारी भी बढ़ी है। लेकिन यहाँ नयी दिल्ली से आशय केवल उस नौकरशाही उपनिवेश से नहीं है जो अपेक्षया सुरक्षित ढंग से एक नकली जीवन जीता रह सकता है। देश की राजधानी होने के नाते नयी दिल्ली का समूचे देश के प्रति एक विशेष कर्तव्य है और यह माँग समूचा देश कर सकता है कि राजधानी उस जिम्मेदारी को पूरा करे। सांस्कृतिक स्तर पर वह जिम्मेदारी नयी दिल्ली में फव्वारे लगा कर या कंक्रीट की कलाकृतियाँ

बना कर पूरी नहीं हो जाती, उस का एक राष्ट्रव्यापी आयाम है। अकादेमियाँ राष्ट्रीय होने के नाते राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करें और राष्ट्र के मानदंडों का विकास भी। और सांस्कृतिक विनिमय के संगठन 'घोड़े के आगे बग्घी जोतने' का प्रयत्न छोड़ कर चीज़ों को सही सन्दर्भ में रखें। विदेश के प्रति खुले रहते हुए देश की छवि को विदेशों में प्रक्षेपित करें, भारत को विदेश बनाने का साधन न बनें। इंडियन कौंसिल फार कल्चरल रिलेशन्स के एक अधिकारी ने हाल ही में किसी को सूचना दी कि "जीवित साहित्यकारों के बारे में लेख छापने की नीति नहीं है।" तो क्या देश की संस्कृति के लिए वह केवल मृतक सत्कार का दायित्व स्वीकार करती है—और इसी सत्कार के लिए विदेशों से 'बिरादरी' को आमन्त्रित करती है।

राजनैतिक संस्कृति और सामाजिक संस्कृति

सस्कृति की बात करने का जमाना नही है। जो लोग फिर भी हठपूर्वक उस की चर्चा करते हैं—जैसे कि मैं—उन्हे तुरत दो श्रेणिया मे से किसी एक मे डाल दिया जाता है (और मेरे जैसे व्यक्ति को तो दोनो ही श्रेणियो मे डाल दिया जाता है)। या तो ऐसे लोग सब परम्परावादी, दकियानूसी दिमाग के है, या फिर किसी-न-किसी तरह के परम्परावादी सगठन से जुडे हुए है। आश्चर्य की बात यह है कि इस तरह का वर्गीकरण सबसे अधिक हमारे देश मे होता है—उस देश मे जिसमे इस तरह का आसान रास्ता अपनाने वाले लोग साथ ही अपनी सस्कृति पर गर्व करने की मुद्रा अपनाना भी आवश्यक समझते हैं। यो तो यह प्रवृत्ति भी मूलत आसान रास्ता चुन लेने की प्रवृत्ति का ही एक पहलू है। नि सन्देह सस्कृति की दुहाई देकर परम्परावादी भी बने रहा जा सकता है और प्रतिक्रियावादी भी बना जा सकता है, लेकिन उतना ही सच यह भी है कि सस्कृति के सवाल उठाये बिना न आधुनिक बना जा सकता है, न प्रगति की जा सकती है और न वास्तव मे मनुष्य ही बने रहा जा सकता है। यह बात केवल कला या सस्कृति के क्षेत्र का सत्य नही है, आज यह राजनीति का भी सत्य है और विज्ञान का भी, यहाँ तक कि आधुनिक जीव-विज्ञान भी इस बात को मानता है कि सस्कृति की प्रक्रिया समझे बिना जैविक स्तर के विकास की दिशा भी नही सम्भाली जा सकती, दूसरे किसी विकास की बात तो बाद की बात है। और उन इने-गिने राजनीतिज्ञो ने भी, जो रोजमर्रा व्यावहारिक राजनीति के जाल मे फँस कर गहराई से राजनीति के बारे मे सोचना ही भूल नही गये, सस्कृति को नये सिरे से राजनीति से जोडने का प्रयत्न किया है क्यो कि सस्कृति भी समाज से जुडी है और जो राजनीति समाज से नही जुडती वह घातक रूप ही ले सकती है। आज ससार के अधिसख्यक देशो मे राजनीति की दिशा ऐसी है कि वह समाज-विकास से कट कर शुद्ध सत्ता की व्यवस्था मे लग जाती है। नि सन्देह सत्ता के कुछ व्यवस्थापक 'जनता' का भी नाम लेते है और

कुछ केवल 'कानून और व्यवस्था' का; लेकिन मूलतः इन दोनो मे उस स्तर पर कोई भेद नही रहता जहाँ सत्ता के अधिकरण की बात होती है। यानी जनता की चर्चा भी जनता से सत्ता पाने के सन्दर्भ मे होती है, जनता को सत्ता देने के सन्दर्भ मे नही।

संस्कृति का विचार इस नये संदर्भ मे भी हो सकता है और होना भी चाहिए। क्या हम सामाजिक संस्कृति और राजनैतिक संस्कृति की अवधारणा करके दोनो के सम्बन्धो पर विचार कर सकते हैं? क्या इस व्याख्या का प्रतिपादन किया जा सकता है कि राजनैतिक संस्कृति को सामाजिक संस्कृति के अधीन और उसके द्वारा अनुशासित रहना चाहिए और यही दोनो का श्रेष्ठ सम्बन्ध होना है? क्या जब तक यह सम्बन्ध बना रहता है तब तक प्रशासनिक सत्ता समाज की सेवा मे लगी रहती है और जब इसमे व्यतिक्रम हो जाता है तब सत्ता अपने को निरंकुश मानकर समाज को इस्तेमाल करने लगती है? और अगर इस अवधारणा को (विवेचन के लिए ही सही), मान कर भारत की आजादी के युग का और विशेष रूप से आज की स्थिति का अध्ययन किया जाय तो क्या कुछ उपयोगी और शिक्षाप्रद परिणाम निकल सकते है? क्या यहाँ भी ऐसा नही हुआ है और हो रहा है कि राजनैतिक संस्कृति धीरे-धीरे सामाजिक संस्कृति का अनुशासन तोडकर निरंकुश हो गयी है और आज हमारा समाज एक निर्बल (और इसलिए भ्रष्ट) समाज होकर एक अतिबल (और इसलिए भ्रष्ट) राजनीति के फेर मे पड गया है? क्या यह सम्भव है कि सामाजिक संस्कृति और राजनैतिक संस्कृति के रिश्ते फिर सुधारे जा सकें? और क्या यह हिंसा के बिना सम्भव है? बल्कि क्या हिंसा से भी यह सम्भव है? क्या कोई भी कैसी भी हिंसा सत्ताधिकरण से जुडी हुई नही होगी और इसलिए क्या वह अनिवार्यतया समाज के विरुद्ध निरंकुश राजनीति के पक्ष मे नही जायेगी?

हम क्योंकि उन लोगों मे से नही हैं जो मानते हैं कि प्रश्नो का हमारा दिया हुआ उत्तर सबको अप्रश्न भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए, इसलिए हमे इसमे कोई दोष नही दीखता कि हम बहुत से प्रश्न सामने रख दें जिनका उत्तर भी हम साथ-साथ प्रस्तुत नही कर रहे है। वास्तव मे इन प्रश्नो के कोई अन्तिम उत्तर हैं ही नही। अगर संस्कृति एक जीवन्त प्रक्रिया है तो उससे सम्बद्ध सभी प्रश्न भी लगातार अपना रूप और लक्ष्य बदलते जायेंगे और इसी तरह उनके उत्तर भी सार्थक होने के लिए लगातार बदलते रहेंगे। किसी एक समय के लिए कोई सही प्रश्न उठा लेने से प्रश्नकर्ता उस गतिमान प्रक्रिया मे शामिल हो जाता है जिसमे प्रश्नो और उत्तरो के गतिमान रूप के साथ वह लगातार जुडता रहे।

यह प्रस्ताव करना तो गलत होगा कि शासन का सम्बन्ध सत्ता की व्यवस्था के साथ न रहे। वह सम्बन्ध हमेशा रहा है (बल्कि दोनो पर्याप्त हैं) और आज सत्ता का विस्तार इतना हो गया है कि उस पर अकुश रखने के लिए कोई न कोई सस्थान होना ही चाहिए और वर्तमान परिस्थिति मे वही राजकीय सस्थान होगा। इसलिए प्रश्न का रूप बदल जाता है और यह सवाल उठता है कि उस सस्थान को निरकुश और अनाचारी होने से रोकने वाला कौन सा सस्थान होगा। वही समाज है या होना चाहिए—एक सस्कृत समाज, क्योकि ऐसा ही समाज उन मूल्यो की प्रतिष्ठा कर सकता है जिसका अनुशासन राज्य व्यवस्था पर रहना चाहिए। और न्याय—आप चाहे तो वह लीजिए सामाजिक न्याय—इन मूल्यो मे प्रमुख है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि न्याय की **जिस व्यवस्था को चलाने का काम सरकार को और सरकारी अधिकरणों को सौंपा गया होता है उस न्याय की वास्तविक अवधारणा समाज की सस्कृति ही करती है।** इसीलिए सरकारें न्याय व्यवस्था की बात नही करती 'कानून और व्यवस्था' की बात करती है। उसके कानून जिस न्याय भावना पर आधारित होते हैं उसकी अवधारणा मूलत सामाजिक चेतना करती है—विधिवेत्ता जब-तब इसी न्याय भावना और उसके आधारभूत मूल्यो की व्यवस्था करते रहते है। ये मूल्य ही सविधानो के आधारभूत सिद्धान्त होते है।

इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि जहाँ समाज और सामाजिक सस्कृति सतुलन बनाये रखने का अपना काम पूरा नही करती या कर सकती वहाँ शासन सत्ता निरकुश हो जायेगी और कानून की व्यवस्था का आधार न्याय अथवा मूल्य-दृष्टि न होकर केवल व्यवहार या तात्कालिक सुविधा रह जायेगी। बिहार की वर्तमान सामान्य स्थिति वहाँ के राजनैतिक और सामाजिक जीवन की व्यापक परिस्थिति और सरकारी शह से या प्रेरणा से होने वाली न्याय की हत्या इसका एक उदाहरण है। विचाराधीन कैदियो क साथ किये गये बर्बर और अमानुषी व्यवहार के लिए सरकार और प्रशासन को तो शर्म से डूबना ही चाहिए, लेकिन क्या यह भी सच नही है कि सरकार और उसक अधिकरणो को ऐसे काम करने, करवाने या होने देने की हिम्मत न हुई होती अगर समाज भी इस मामले म उदासीन न होता और कहीं-कहीं तो प्रशासन के कुकृत्यो का प्रकट या अप्रकट समर्थक भी न होता? क्योकि समाज म कोई मूल्य-दृष्टि नहीं रही, उसकी न्याय भावना सो रही है या मर गयी है इसीलिए तो ऐसे अत्याचार सम्भव हो सके और इतनी निर्लज्जता स उनका समर्थन भी हो सका। अवश्य ही कुछ अल्पसख्यक लोगो ने इन अत्याचारो की भर्त्सना की। लेकिन इन भर्त्सना करने वालो म भी कुछ थोडे से ही थे जिनसे हम मूल्यो के सम्बन्ध मे प्रामाणिक निर्देश की आशा करते आये हैं। इनके अलावा

ऐसे भी थे जिन्होंने व्यावहारिक राजनीति के कारण अत्याचार का विरोध करना उपयोगी समझा, लेकिन फिर उससे आगे उस विरोध को व्यावहारिक रूप देने की—अपराधियों को दंड देने की और भविष्य में उसकी सम्भावना रोकने की—कोई जरूरत नहीं समझी।

राजनैतिक संस्कृति और सामाजिक संस्कृति के सम्बन्ध की चर्चा में यह स्पष्ट करने पर कि मूल्य-दृष्टि और न्याय भावना की प्रतिष्ठा करने का काम पूरे समाज का है और उसे प्रशासनिक रूप देने का काम राजनैतिक समाज का, एक सवाल जरूर सामने आता है। आपत्ति उठायी जाती है कि सामाजिक संस्कृति तो समाज में उस समय प्रभुता प्राप्त वर्गों के संवेदना का ही प्रतिबिम्ब होती है, इसलिए किसी भी समय की सामाजिक संस्कृति उस समय के प्रभुता-सम्पन्न वर्गों की मूल्य-दृष्टि पर आधारित होगी और ये मूल्य स्वभावतः उसी वर्ग या उन्हीं वर्गों के हितों के पोषक होंगे। इस आपत्ति में कोई सार नहीं है, यह कहना तो बिलकुल गलत होगा, लेकिन उतना ही गलत यह भी होगा कि हम यह मान लें कि समाज में प्रतिष्ठित मूल्यों की अवधारणा का एकमात्र आधार वर्ग-हित होते हैं। यह मान लेना एक ओर मानव के बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास को नकारना होगा, प्रबुद्ध व्यक्ति की भी वर्गहित से ऊपर उठ सकने की सम्भावना को नकारना होगा, दूसरी ओर यह सामाजिक जीवन में हिंसा को एक स्थायी प्रतिष्ठा और अनिवार्यता दे देना होगा। अगर वर्ग-स्वार्थ ही मूल्यों का एकमात्र आधार है तो वर्ग-संघर्ष ही उसमें सुधार का एकमात्र उपाय है। हमें यह परिणाम स्वीकार्य नहीं है। वर्ग-चेतना भी परिवेश का एक प्रमुख और क्रियाशील तत्त्व है, लेकिन उसकी क्रियाशीलता का एक-मात्र रास्ता संघर्ष अथवा वर्गगत हिंसा है इसे मान लेना यही मानना है कि विकास की एकमात्र प्रेरणा सामाजिक हिंसा है।

हम सोचते हैं कि मानवीय संस्कृति जहाँ तक पहुँची है, और बार-बार पथ में भटककर भी उसने अब तक जो कुछ सीखा है, वह सब इस मान्यता के विरुद्ध पड़ता है। हिंसा अनिवार्य नहीं है। और अगर अनिवार्य नहीं है तो न्याय की अवधारणा में हमें उसी सामाजिक न्याय और उसी के आधारभूत मूल्यों को खोजना है उन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न करना है जो हिंसा पर आधारित नहीं है और जो हिंसा की अनिवार्यता को स्वयंसिद्ध मान कर नहीं चलते।

अगर आज भी हमें यह प्रयत्न करना है और हम इसे सम्भव मानते हैं कि शासन-सत्ता के ऊपर सामाजिक संस्कृति का कार्यक्षम अनुशासन हो सके, तो हम इसी चुनौती का सामना करना है। न्याय सरकारें नहीं बाँटतीं; सरकारें कानून और व्यवस्था की रक्षा करती हैं। न्याय की प्रतिष्ठा पूरा-का-पूरा

समाज करता है। और अगर नहीं करता तो उस का नतीजा भोगना है। हिंसा होती है, और हिंसा की सन्तान सबसे पहले अपने जनक को खाती है। कुछ लोगों के लिए उस दृश्य की कल्पना भी सुखद हो सकती है, हमारी कल्पना को प्रेरणा देने वाले दृश्य दूसरे हैं। □